No-057541
Lo-43.14
वि. 8.1

श्रमण

जुलाई १९९६

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जै ना श्र म

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

प्रस्तुत अंक में—

१. पारस-दर्शन—श्री प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस' १

२. हेमचन्द्र और भारतीय काव्यालोचना—डा० देवेन्द्रकुमार २

३. पउमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु—डा० के० रिषभचन्द्र ८

४. आर्ष प्राकृत का व्याकरण—पं० बेचरदासजी दोशी १२

५. विषधर के विष से भी भयानक—श्री रूपनारायण वर्मा 'वेणु' १५

६. पुष्कर के सम्बन्ध में शोध—श्री अजित मुनि 'निर्मल' १७

७. अहिंसा की परिणति–समन्वय और सत्याग्रह—काका कालेलकर १८

८. गुणव्रत—डा० मोहनलाल मेहता २२

९. पिण्डनिर्युक्ति—डा० जगदीशचन्द्र जैन २८

१०. कुमार–सिंह वार्ता—श्री फिल्टर ३२

११. साहित्य-सत्कार— ३५

वार्षिक
पाँच रुपये

एक प्रति
पचास पैसे

जैनविद्या का मासिक

वर्ष १७ | जुलाई १९६६ | अंक ९

पारस-दर्शन

पायो जी मैंने पारस दरसन पायो।
जनम जनम के जोग जतन से, ऐसो अवसर आयो।
रतन जड़त को मुकुट सुहावे, सीस फणीधर छायो।
अश्वसेन वामा के नन्दन, हरखि हरखि गुण गायो।
परमारथ के काज प्रभू तुम, भवभव कष्ट उठायो।
पारस रस पा दरस परस कर, जीवन सफल बनायो।

प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस'

हेमचन्द्र और भारतीय काव्यालोचना

डा० देवेन्द्र कुमार

आचार्य हेमचन्द्र, भारतीय मनीषा का महान् और अनोखा व्यक्तित्व है। वाङ्मय का ऐसा संग्राहक, सरस्वती का ऐसा उपासक, वाणी और काव्य का ऐसा अनुशासक, तर्क और दर्शन का ऐसा अधिकारी वेत्ता और युग की ज्ञानोपलब्धियों को संजोकर रखने वाला ऐसा साधक, विश्व के इतिहास में मिलना कठिन ही नहीं ,असंभव है। हेमचन्द्र का व्यक्तित्व उस सूर्यबिम्ब की तरह है जिसकी किरणों से युग का क्षितिज एक साथ आलोकित हो उठता है।

संवत् १०७८ में गुजरात के एक गाँव धंधु में, एक मोढ़गोत्रीय वैश्य परिवार में हेमचन्द्र जी जन्मे। बचपन का नाम था चाँगदेव या चाँगोदेव। या दो में से एक। यह नहीं मालूम है कि पिता के नाम का ठीक-ठीक उच्चारण क्या था; चच्च, चाच या चाचग और यही हालत है मां के नाम के उच्चारण के विषय में, पाहिनी या चाहिनी। माता-पिता का नाम जो भी रहा हो, पर यह सच है कि उन्होंने जिस बालक को जन्म दिया वह अमर है। चांगदेव को हेमचन्द्र बनाने में वह दिन वरदान सिद्ध हुआ जब मां ने उन्हें साधु देवचन्द्र को सहर्ष सौंप दिया। देवचन्द्र साधु का धंधुका आना। मंदिर में उनका बालक चाँग के शरीर में असाधारण चिह्न देखना। मां से दीक्षा देने के लिए अबोध बालक को माँगना। मां का पुत्र सौंप देना, यह नियति ही थी, और यदि यह सब एक झटके में, नाटकीय प्रक्रिया से नहीं होता, तो कौन जानता कि चाँगदेव हेमचन्द्र बनते या नहीं। यदि कुछ और बनते तो क्या बनते। पर इतना निश्चित है कि इस पुत्रदान के लिए, मां को अपने पति की बड़ी फटकार सुननी और सहनी पड़ी। क्या यह सब उस ममतामयी मां की नियति ही थी, या यह कि वह अपने पुत्र में छिपी हुई महान् संभावनाओं को साकार देखना चाह रही थी। हम यह नहीं भूल सकते कि हेमचन्द्र के व्यक्तित्व के महान् विकास का बीज, मां के मूक त्याग में ही सुरक्षित था जो कि उचित अवसर पाकर पुष्पित और पल्लवित हो सका।

और अब आचार्य हेमचन्द्र मात्र व्यक्ति नहीं, युग की ज्ञानसाधना के प्रतीक हैं। यद्यपि यह जानने का कोई भी साधन हमारे पास नहीं है कि हेमचन्द्र की वास्तविक गतिविधियाँ क्या थीं, या यों कहिए कि अपनी प्रतिभा का बहुमुखी विनियोजन, वे किस प्रकार कर सके ? फिर भी अपनी साहित्यिक और ज्ञानात्मक कृतियों में वे यह जानने के लिए पर्याप्त प्रमाण छोड़ गए हैं जिनसे उनकी क्रियाशीलता का सही चित्र मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि परंपरागत आदर्शों के संदर्भ में हेमचन्द्र, एक खास सम्प्रदाय के आचार्य थे, और उनका जीवन मुक्ति की निश्चित मान्यताओं के लिए समर्पित था, परन्तु उन्होंने स्वयं की मुक्ति, ज्ञान की निरन्तर आराधना में खोजी। उनकी ज्ञान-साधना की यह विशेषता रही है कि वह आत्म-सापेक्ष्य ही नहीं, वस्तुसापेक्ष्य भी है। ज्ञान की जैसी उन्मुक्त प्यास उनमें थी, वैसा ही उदार था उनका दृष्टिकोण। लगता है कि उनका जीवन, परंपराओं के अध्ययन, और युग-प्रवृत्तियों के परिचय में बीता और वे ज्ञान की भावी संभावनाओं की प्रस्तावना लिखते रहे।

हेमचन्द्र एक धर्माचार्य हो सकते हैं, महान् यशस्वी हो सकते हैं, और एक असाधारण व्यक्तित्व हो सकते हैं, परन्तु मुझे जो उनकी सबसे बड़ी और प्यारी देन लगती है वह है उनकी सक्रिय निष्ठा जो लोकभाषा, देशीशब्द तथा लोकपरंपरा के अध्ययन और विश्लेषण में दिखाई देती है। लोक-काव्य-परंपराओं के ऐसे ही महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उनके काव्यानुशासन में उपलब्ध हैं, जो भारतीय काव्यालोचना की खोई हुई कड़ियों और लोकपरंपराओं की जानकारी देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'काव्यानुशासन', 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के बाद की रचना है। प्रस्तावना में वे कहते हैं—'शब्दानुशासन' में मैं साधु भाषा का निरूपण कर चुका हूँ अब उसी क्रम में भाषाओं के काव्य का अनुशासन कर रहा हूँ'[१]। इसके तीन अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो यह कि भाषाबोध के बाद ही काव्यबोध की प्रक्रिया काम करती है। दूसरा यह कि काव्यों का अनुशासन उसी क्रम में किया जायगा जिस क्रम में भाषाओं का विवेचन। तीसरा यह है कि काव्य का भी सीधा शासन नहीं—अनुशासन हो सकता है। विशेषरूप से लोक-काव्यपरंपरा के सन्दर्भ में यह बात अधिक स्पष्टता से देखी जा सकती है। इसका एक अर्थ यह भी है कि आलोचक या काव्यशास्त्र का निर्माता उपजीवी है, वह दूसरों की रचनाओं पर जीता है।

१. काव्यानुशासन, श्लोक २।

आचार्य हेमचन्द्र के सामने मम्मट का 'काव्यप्रकाश' था। परन्तु वे काव्य के तीन ही प्रयोजन स्वीकारते हैं। ये हैं—आनन्द, यश और कान्तातुल्य उपदेश। शेष तीन प्रयोजन वे अस्वीकार कर देते हैं, ये हैं—अर्थ, व्यवहार-ज्ञान और अकल्याण की 'निवृत्ति'। ये प्रयोजन मम्मट द्वारा स्वीकार्य हैं। हेमचन्द्र की इस सन्दर्भ में मुख्य आपत्ति यह है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति दूसरे साधनों से भी हो सकती है। काव्य का मुख्य प्रयोजन आनंदानुभूति ही है जिसका सम्बन्ध कृतिकार और उसके पाठक दोनों से है। यश का सम्बन्ध कृतिकार से है, और 'कान्ता-सम्मत' का सम्बन्ध लोक की नैतिक चेतना से है। मानवसभ्यता के विकास से इस चेतना का गहरा सम्बन्ध रहा है, इतिहास ने जो इस सन्दर्भ में विभिन्न प्रयोग किए हैं उनका निष्कर्ष यही है कि डंके की चोट पर, या कोरे आध्यात्मिक उपदेशों से 'नैतिकता' उत्पन्न नहीं की जा सकती। नैतिकता के लिए एक आत्मीय नम्रता और सांकेतिकता चाहिए, जो काव्य में ही सम्भव है, क्योंकि वह मनुष्य की प्रवृत्ति की स्वैरता को स्वीकार करके भी उसे अप्रत्यक्ष रूप से मोड़ देने में विश्वास रखता है, जो एक पत्नी कर सकती है। हेमचन्द्र कहते हैं—

"सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा-ब्रह्मास्वादसदृशीप्रीतिः—आनन्दः। इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्य-प्रयोजनम्" ।।

इसके आस्वादन से शीघ्र उत्पन्न हुई, दूसरी अनुभूतियों को तिरोहित कर देनेवाली, ब्रह्मानुभूति के समान उत्पन्न हुई प्रीति ही वस्तुतः आनन्द है, यह सभी प्रयोजनों का एकमात्र रहस्य है, जो कवि और सामाजिक दोनों के सामान्य रूप से प्रयोजन हैं।

काव्य की प्रेरणा, प्रतिभा और उसकी विकासप्रक्रिया के कारणों का विश्लेषण करने के बाद हेमचन्द्र बताते हैं कि कवि को कभी अनस्तित्व की अस्तित्व में, और अस्तित्व की अनस्तित्व में कल्पना करनी पड़ती है। उनका यह कथन, कुछ परम्परागत काव्यरूढियों के सम्बन्ध में है। काव्य की परिभाषा में, वह दोषहीन सगुण और अलंकारवती सार्थक वाणी के विधान को काव्य मानते हैं। लगता है वे काव्य की परिभाषा और स्वरूप को सरल करने के पक्ष में हैं।

"अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"

काव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में वे शब्दशक्तियों की विस्तार से चर्चा करते हैं, इसमें बहुत कुछ परम्परागत विचार हैं। वे शान्त को नौवां रस मानते हैं।

काव्य और उसके अंगों के विवेचन में हेमचन्द्र के विचार परम्परावादी हैं, यह स्वाभाविक भी था क्योंकि संस्कृत में काव्य और उसकी आलोचना उनके युग में रूढ़ हो चुकी थी। परन्तु उनका काव्यविभाजन एकदम मौलिक है। उनके अनुसार काव्य के दो भेद हैं: 'प्रेक्ष्य और श्रव्य'। इस सन्दर्भ में उनकी पहली मान्यता यह है कि कवि ऋषि है क्योंकि जिस 'कवृ' धातु से कवि शब्द बना है उसके दो अर्थ हैं 'देखना' और 'वर्णन करना'। कवि जो कुछ साक्षात्कार करता है, उसका वर्णन करने की प्रतिभा भी उसमें होती है। कवि और इतिहासकार में यही अन्तर है कि द्रष्टा दोनों है, परन्तु कवि वर्णन कर सकता है जब कि इतिहासकार में यह प्रतिभा नहीं होती, इसीलिए इतिहास काव्य नहीं हो सकता। हेमचन्द्र कहते हैं: "नानृषिः कवि' 'कवृवर्णे' इति च दर्शनात् वर्णनाच्च कविः, तस्य कर्म काव्यम्। एवं च दर्शने सत्यपि वर्णनायाः अन्तर्भावात् इतिहासादीनां न काव्यत्वम्"। प्रेक्ष्य के वे दो भेद करते हैं—

'प्रेक्ष्यं अभिनेयं। प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च"।

यह मार्के की बात है कि एक ओर हेमचन्द्र कहते हैं कि प्रेक्ष्य 'अभिनेय' होता है, जब कि दूसरी ओर वे उसके 'पाठ्य और गेय' दो भेद करते हैं, जबकि ये दोनों भेद, परम्परागत काव्यालोचना में स्वीकार किए जाते रहे हैं—श्रव्यकाव्य में। हेमचन्द्र के कथन के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो यह कि जिन्हें अभिनेय कहा जाता है वे वस्तुतः अपनी साहित्यिकता के कारण पाठ्यकाव्य ही अधिक हैं। हिन्दी नाटककार प्रसाद पर यही मुख्य आरोप है कि उनके नाटक साहित्यिक अधिक है, अभिनयात्मक कम। वे पाठ्यकाव्य के निम्न भेद गिनाते हैं—

पाठ्य अर्थात्--नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिका, अंक, प्रहसन, भाव, वीथी, और सट्टक आदि। ये सब रूपक के भेद हैं, इसमें उसकी शास्त्रीय और लौकिक दोनों विधाएँ आ जाती हैं। इन्हें पाठ्यकाव्य कहकर वे बताना चाहते हैं कि अभिनीत न होने के कारण इन्हें पाठ्य कहना ही अधिक उचित है। नाटक और प्रकरण के बीच, वे मुख्य विभाजक रेखा, यथार्थ और कल्पना को स्वीकारते हैं। क्योंकि उनके अनुसार

नाटक में वस्तुशरीर और नायक, या तो प्रख्यात यानी ऐतिहासिक होता है, जब कि प्रकरण में--काल्पनिक। 'प्रकरण के वस्तुकलेवर और नायक' को कवि आत्म-शक्ति से उत्पन्न करता है।

"यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तुशरीरं च नायकं चैव
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणं, इति तद् बुधैर्विज्ञेयम्"

गय काव्यों की जिन विधाओं को आचार्य हेमचन्द्र परिभाषित करते हैं, वे लोकजीवन में प्रचलित नाट्यकृतियाँ या परंपराएँ रही होंगी। उदाहरण के लिए हल्लीसक की यह परिभाषा है कि उसमें मंडलाकार नृत्य होता है, एक नेता रहता है, जैसे गोपस्त्रियों के बीच हरि।

"मंडलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तु तत्र नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः" ॥

हल्लीसक से 'रासक' में भेद है। क्योंकि रासक में अनेक नर्तकियों की योजना होती है, चित्र-ताल और लय से युक्त होता है। उसमें कम से कम ऐसे चौसठ जोड़े होने चाहिए।

"अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रतालललयान्वितं।
आ चतुःषष्टि युगलात् रासकं मसृणोद्धतम्" ॥

इस प्रकार 'हल्लीसक' में एक नेता और शेष गोपियाँ रहती हैं जब कि 'रासक' भी एक मंडलाकार नृत्य है परन्तु उस में नर्तकियाँ होती हैं और उनके जोड़े। इससे यह संभावना की जा सकती है कि 'हल्लीसक' एक सामूहिक लोक-नृत्य था जबकि 'रासक' कलात्मक नृत्य। आगे चलकर 'हल्लीसक' और 'रासक' की विभाजक रेखा मिट गई और 'रास' के केन्द्र में श्रीकृष्ण अधिष्ठित हो गए।

श्रव्य-काव्य के विभाजन से लगता है कि हेमचन्द्र कथा-काव्य को भी उसकी सीमा में लाना चाहते हैं।

"श्रव्यं महाकाव्यमाख्यायिका कथा चम्पूनिबद्धं च"

जहाँ तक महाकाव्य का संबंध है वे स्वीकारते हैं कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों में हो सकता है। वे यह भी संकेत देते हैं, एक भाषा-काव्य की विशेषताएँ दूसरी भाषा के काव्य में देखी जा सकती हैं। कथाकाव्य के सम्बन्ध में हेमचन्द्र की कई सूचनाएँ बहुत महत्व रखती हैं। उदाहरण के लिए आख्यायिका संस्कृत में लिखित वह गद्ययुक्त कथा है जिसका नायक ख्यात-

वृत्त हो, भावी अर्थों के सूचक वक्त्रादि से युक्त कथा 'आख्यायिका' है। इसमें खंड को उच्छ्वास कहते हैं, जैसे हर्षचरित। कथा की यह परिभाषा

"धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा"

इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हेमचन्द्र के सम्मुख प्राकृत और अपभ्रंश में इस प्रकार की कथाओं की भरमार थी, वे सब के सब पद्य में लिखित थीं। इसमें यह आवश्यक नहीं कि कथा स्वयं उसका नायक कहे, दूसरा भी उसका वर्णन कर सकता है। इस प्रकार हेमचन्द्र की परिभाषा लचीली है। सर्वभाषा कथा से उनका तत्पर्य उस काव्य से है, जो कई भाषाओं में निबद्ध हो। 'आख्यान' प्रबंधकाव्य का वह अंश है, जो दूसरे को समझाने के लिए, कथाभाग के रूप में अभिनीत हो या कहा जाय, या पढ़ा जाय। जब पशुपक्षी या दूसरों के माध्यम से अच्छे-बुरे कार्य करने न करने की सीख दी जाय तो वह निरर्थक है। अपने प्रमुख को ध्यान में रखकर, किसी दो का विवाद 'प्रवाह्लिका' है, प्रेतमहाराष्ट्री भाषा में जो कथा लिखी जाय, अथवा पुरोहित या अमात्यादि का उपहास उड़ाने वाली कथा, 'मतल्लिक' कहलाती है। जिसमें वस्तु पहले प्रकट न होकर बाद में प्रकट हो, उसे 'मणिकुल्या' कहते हैं, जब किसी पुरुषार्थ विशेष को लक्ष्य में रखकर, कई वृत्तान्तों को लेकर कथा कही जाय, तो वह 'परिकथा' है। परिकथा, एक प्रकार से आधुनिक आंचलिक उपन्यासों का पूर्वरुप है, इस अर्थ में कि आंचलिक कथा एक क्षेत्र तक केन्द्रित रहती है जब कि परिकथा एक उद्देश में। 'खंडकथा' वह है जिसमें किसी काव्य के प्रसिद्ध इतिवृत्त को लेकर कोई कथाकाव्य लिखा जाय। 'सरलकथा' वह है जिसमें समस्त वृत्तान्त और उसके फल का वर्णन किया जाय, जब एक चरित को लेकर किसी कथा का निबंध किया जाय तो उसे 'उपकथा' कहते हैं। 'बृहत्कथा' वह है जिसमें बहुत सी कथाएँ हों। कथाकाव्यों के भेदप्रभेदों के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के बहुत पहले से कथाकाव्य की परंपरा लोकप्रिय हो उठी थी, इतनी लोकप्रिय कि उसमें गद्य-पद्य और भाषा की सीमाएं नहीं रह गई थीं। हेमचन्द्र के लिए एक काव्य का अनुशासक होने के नाते यह आवश्यक था कि वे उसके काव्यरूपों को परिभाषित करते। लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि चरितकाव्यों के सम्बंध में उनके क्या विचार थे। चरितकाव्य कथाकाव्य है, और हो सकता है कि हेमचन्द्र ने इसीलिए

[शेष पृष्ठ ११ पर]

पउमचरियं : संक्षिप्त कथावस्तु

डा० के० ऋिषभचन्द्र

विमलसूरि ने 'पउमचरियं' की रचना ईसा की पाँचवीं शती में की थी। यह पूरी रचना पद्यमय है और इसका विस्तार ८६५१ गाथाप्रमाण है। विषय-वस्तु कुल ११८ उद्देशों (पर्वों) में विभक्त है। इस रचना का दूसरा नाम जैन रामायण है, जिसमें दाशरथी राम का ही अपर नाम पउम (पद्म) है। इसके प्रारंभ में रावण-चरित का वर्णन है और तत्पश्चात् २१ वें पर्व से राम-(चरित) कथा आरंभ होती है। इस कथा सामग्री के साथ-साथ इसमें चौसठ अवान्तर कथाओं का समावेश हुआ है। इनमें से कतिपय चरितात्मक कथानक हैं तो कुछ शिक्षाप्रद। इनके अतिरिक्त पूर्वजन्म की कथाओं का प्रमाण सबसे अधिक है जो धार्मिक उपदेश के वातावरण से आप्लावित है। नीचे पउम-चरियं का जो संक्षिप्त सार दिया जा रहा है उसमें अवान्तर कथाओं का वर्णन सामान्यतः समाविष्ट नहीं है, क्योंकि वह सामग्री स्वतः इतनी विशाल है कि उसे एक अन्य निबन्ध में प्रस्तुत करना ही उचित होगा। हरेक उद्देशानुसार पउमचरियं की कथावस्तु इस प्रकार है :—

१. कवि अपनी रचना का श्रीगणेश तीर्थंकर भगवानों की स्तुति के साथ करते हैं और श्रोताओं को पद्म-कथा (राम-कथा) सुनाने की अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। कथा के उद्गम के संबंध में वे बतलाते हैं कि प्रस्तुत कथानक नामावलीनिबद्ध सूत्रों और आचार्यपरंपरा से उन्हें प्राप्त हुआ है। तत्पश्चात् वे अपना नाम (विमलसूरि) तथा इस रचना के स्वरूप तथा इसकी शैली के बारे में कुछ कहते हैं। इसके बाद ग्रन्थ की विस्तृत विषय-सूची दी गयी है। वे पुनः जिस परंपरा से यह कथा उन्हें प्राप्त हुई उसका तथा इस रचना के स्वरूप व शैली का उल्लेख करते हैं।

वर्णों तथा वंशों की उत्पत्ति :

२–४. तत्पश्चात् भगवान् महावीर का संक्षिप्त जीवनचरित दिया गया है। उनका विपुलगिरि (राजगृह) पर आगमन होता है और राजा श्रेणिक (बिम्ब-

सार) उनकी वन्दना करने वहाँ पर जाते हैं। दूसरे दिन राजा श्रेणिक गौतम (महावीर के प्रथम गणधर) के समक्ष लौकिक रामकथा के बारे में अपने संदेह प्रकट करते हैं और उनसे सच्ची रामकथा का श्रवण करने के लिए प्रार्थना करते हैं। इस पर गौतम सच्ची रामकथा का वर्णन प्रारंभ करते हैं। उपोद्घात में विश्वरचना, कालचक्र, चौदह कुलकरों की उत्पत्ति, प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का चरित, समाज के तीन वर्गों की स्थापना, विद्याधर नमि और नेमि की राज्य-स्थापना, प्रथम चक्रवर्ती भरत और बाहुबलि का युद्ध और समाज के चौथे वर्ग ब्राह्मण (माहण) वर्ण की स्थापना का विवरण संक्षेप में दिया जाता है।

५. तदुपरांत इक्ष्वाकु, सोम और विद्याधर वंशों का उद्भव तथा उनकी राज-वंशावलियाँ, द्वितीय तीर्थंकर अजित का चरित, विद्याधर मेघवाहन के द्वारा लंकापुरी में प्रथम राज्य-स्थापना, द्वितीय चक्रवर्ती राजा सगर के पुत्रों का अकाल-निधन और राक्षसवंश की उत्पत्ति के वृत्तान्त कह सुनाते हैं।

रावणचरित :

६. गणधर गौतम कथा को आगे बढ़ाते हुए विद्याधर श्रीकण्ठ के द्वारा वानर-द्वीप में किष्किन्धिपुर की राज्यप्राप्ति और उसी के वंश में राजा अमरप्रभ द्वारा वानर-वंश की स्थापना आदि का वर्णन करते हैं। समय बीतने पर रथनूपुर का विद्याधर राजा अशनिवेग, किष्किन्धिपुर और लंकापुरी को क्रमशः वानरराज किष्किन्धि और राक्षसराज सुकेश से हड़प लेता है। अनुकूल समय आने पर सुकेश का पुत्र माली लंका पर पुनः अपना अधिकार जमा लेता है।

७. राजा माली अशनिवेग के पौत्र तथा सहस्रार के पुत्र इन्द्र के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन नहीं कर सकता। वह इन्द्र पर आक्रमण करता है परन्तु युद्ध में मार दिया जाता है। इस अवसर पर विद्याधर महाराजा इन्द्र, सोम, वरुण, कुबेर और यम नामक अन्य स्थलों के विद्याधर राजकुमारों को चारों दिशाओं के शासक (लोकपाल) नियुक्त करता है तथा वैश्रवण को लंकापुरी का राज्य देता है। इधर माली के छोटे भाई सुमाली के घर जो भयग्रस्त अवस्था में पातालंकारपुर में रहता था, रत्नाश्रव नामक पुत्र का जन्म होता है। वह कैकसी से शादी करता है। उनके रावण (दशमुख), भानुकर्ण (कुम्भकर्ण), चन्द्रनखा और विभीषण नामक सन्तान उत्पन्न होती हैं। रावण अपनी साधना

के द्वारा कई विद्याओं का स्वामी बनता है और लंका को पुनः अपने अधीन करने का दृढ़ संकल्प लेता है।

८. रावण मन्दोदरी तथा अन्य कन्याओं के साथ विवाह करता है। मन्दोदरी से उसे इन्द्रजीत और मेघवाहन नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। अपनी वीरता के फलस्वरूप रावण वैश्रवण (धनद) और यम को पराजित करता है तथा किष्किन्धि के पुत्र आदित्यरज को किष्किन्धि नगर का राज्य वापिस दिलवाता है। इस दरम्यान रावण भुवनालंकार नामक हस्ति को भी अपने अधीन करता है।

९. तत्पश्चात् विद्याधर खरदूषण के द्वारा चन्द्रनखा (रावण की बहिन) का हरण, रावण की आदित्यरज के पुत्र बालि के साथ उसके बहिन की अपने साथ शादी करने के लिए मुठभेड़, बालि के द्वारा राज्यत्याग और श्रमणधर्म का स्वीकार, रावण के द्वारा अष्टापद पर्वत पर श्रमण बालि को तंग करना तथा रावण की बालि के हाथ पराजय इत्यादि का वर्णन किया जाता है।

१०. रावण अनेक खेचर (विद्याधर) राजाओं को हराता हुआ पातालंकारपुर पहुँचता है। वहाँ पर खरदूषण उसका सम्मान करता है और वह रावण का प्रीतिभाजक बन जाता है। रावण अब अपनी दिग्विजय प्रारंभ करता है। वह माहेश्वरराज सहस्रकिरण को बन्दी बनाता है तथा अनेक अन्य राजाओं को अपने अधीन करता है।

११. राजगृह के राजा मरुत् के द्वारा आयोजित पशु-यज्ञ को बन्द करवा कर रावण उसकी पुत्री कनकप्रभा के साथ शादी करता है। उससे उसको कृतचित्रा नामक पुत्री उत्पन्न होती है।

१२-१३. कृतचित्रा की शादी मथुरा के राजकुमार मधु के साथ की जाती है। रावण दुर्लंघ्यपुर पर आक्रमण करके वहाँ के राजा नलकूबर को हराता है। वह नलकूबर की पत्नी उपरम्भा के प्रेमप्रस्ताव को अस्वीकृत करके उसको चरित-भ्रष्ट होने से बचाता है। तत्पश्चात् वह विद्याधर राजा इन्द्र को अपने वश में करता है।

१४. इसके पश्चात् वह केवली अनन्तवीर्य के पास वन्दना करने जाता है तथा उनसे व्रत ग्रहण करके किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती से यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है।

१५–१९. रावण अपनी दिग्विजय में वरुण के साथ भी युद्ध करता है, परन्तु वहाँ पर उसकी सेना हार जाती है और उसके भाई और पुत्र को बन्दी बना लिया जाता है। ऐसे अवसर पर वानरराज पवनंजय की सहायता से वह वरुण के साथ सन्धि करके अपने संबंधियों को मुक्त करवा लेता है। परन्तु कुछ दिन बाद पवनंजय के पुत्र हनुमान की मदद से वह वरुण पर विजय प्राप्त करके भारत के तीन खण्डों का अधिपति बन कर अर्धचक्रवर्त्ती का पद प्राप्त करता है।

२०. इसके बाद राजा श्रेणिक, गौतम गणधर से जैनधर्म के शलाका पुरुषों के संबंध में प्रश्न करते हैं और गौतम उन महापुरुषों के जन्मस्थान, माता-पिता, अन्तरकाल, आयु, ऊँचाई इत्यादि का वर्णन करते हैं।

—क्रमशः

[पृष्ठ ७ का शेष]

उसकी अलग से परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं समझी। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और उसके काव्यरूपों की चर्चा की है, इसके सिवाय वे लोक-काव्यपरंपरा से निकटतम सम्पर्क रखते रहे हैं, ऐसी स्थिति में अपभ्रंश चरितकाव्य का अपरिभाषित रह जाना, हमें उक्त निष्कर्ष पर ले जाता है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की ही व्याख्या और मूल्यांकन तभी संभव है जब उनके उक्त मौलिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में उक्त कृतियों की छानबीन कर सही स्थिति का पता लगाया जाय। भारतीय काव्यालोचना के इतिहास में यही उनकी एक महत्वपूर्ण देन है।

आर्ष प्राकृत का व्याकरण

पं० बेचरदासजी दोशी

(गतांक से आगे)

वेदों की भाषा आर्ष है वैसे ही जैन आगमों की तथा बौद्ध पिटकों की भाषा भी आर्ष है। छान्दस-भाषा और आर्षभाषा करीब-करीब समान है। व्याकरणों में विविध प्रकार के विधान किये गए हैं और विविध प्रयोगों की साधना के लिए अनेक प्रक्रियाएँ बनाई गई हैं। छांदसभाषा में अथवा आर्षभाषा में उन विधानों के अनुसार ही सब कुछ नहीं होता तथा उन प्रक्रियाओं का भी सब प्रकार से अनुसरण नहीं होता। जिस प्रकार आम जनता की भाषा अनियंत्रित है ठीक उसी प्रकार छान्दसभाषा या आर्षभाषा व्याकरण के नियन्त्रणों के अनुसार नहीं चलती। इसका अर्थ ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए कि आर्षभाषा उटपटांग है, अव्यवस्थित है और व्यवहारक्षम नहीं है। आर्षभाषा बराबर सुव्यवस्थित है, व्यवहारक्षम है और वक्ता के अथवा लेखक के विचार व्यक्त करने में पूरी तरह से समर्थ है। मात्र उसकी शैली व्याकरणानुसारी नहीं होती परंतु जिस समय की आर्षभाषा है उस समय की भाषाओं की सब मर्यादाओं को ठीक प्रकार से अनुसरण करने वाली होती है। आर्षभाषा को समझाते हुए महान् वैयाकरण पाणिनि ने यह सूत्र बनाया है कि "व्यत्ययो बहुलम्" ३।१।८५ अर्थात् आर्षभाषा में व्याकरणों के बहुत से विधानों का व्यत्यय होता है अर्थात् वे विधान आर्षभाषा में व्याकरणानुसार ही होते हैं ऐसा नहीं होता परन्तु विपरीत विधान भी होते हैं। जैसे, व्याकरण में 'भिद्' धातु का रूप 'भिनत्ति' होता है, आर्षभाषा में 'भेदति' होता है; 'मृ' धातु का व्याकरण में 'म्रियते' होता है, आर्षभाषा में 'मरति' होता है; 'हन्' धातु का 'हन्ति' होता है, आर्षभाषा में 'हनति' होता है। संज्ञावाचक शब्दों के रूपों में भी व्याकरणानुसार 'पति' शब्द का तृ० ए० 'पत्या' होता है, आर्षभाषा में 'पतिना'; 'गो' शब्द का ष० ब० 'गवाम्', आर्षभाषा में गोनाम्; 'युस्मद्' का प्रथमा बहुवचन व्याकरण की दृष्टि से 'यूयम्', आर्षभाषा में 'युष्मे'; 'अस्मद्'

का प्र० ब० 'वयम्', आर्षभाषा में 'अस्मे'। इस प्रकार आर्षप्रयोगों में व्याकरण के नियंत्रणों का व्यत्यय होता है। ऊपर बताये गए उदाहरण वेदों की भाषा के हैं, जिस प्रकार वेदों की भाषा पाणिनीय व्याकरण के नियंत्रण में नहीं है फिर भी जिस समय के वेद हैं उस समय की भाषा की मर्यादा का वेदों की भाषा भी अतिक्रमण नहीं करती ठीक उसी प्रकार जैन आगमों की भाषा और बौद्ध पिटकों की भाषा प्राकृतव्याकरण के नियंत्रण में नहीं है। परंतु जिस समय की वह भाषा है उस समय की लोकप्रसिद्ध भाषामर्यादा का तो अतिक्रमण नहीं करती। चंड तथा वररुचि का प्राकृतव्याकरण सबसे पुराना है और बाद में आचार्य हेमचंद्र ने संपूर्ण प्राकृतव्याकरण की रचना की है। व्याकरणकार चंड[१] ने अपने 'प्राकृतलक्षण' में आर्षप्राकृत का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है और आचार्य हेमचंन्द्र ने भी प्राकृतव्याकरण के आरंभ में ही 'आर्षम्' ८।१।३। सूत्र रखा है और सूचित किया है कि "आर्षे हि सर्वे विधयो विकलयन्ते" अर्थात् प्राकृतव्याकरण में दिखाये हुए सब विधान आर्ष प्राकृत में विकल्प से होते हैं। "ऋषीणाम् इदं आर्षम्" इस प्रकार 'आर्ष' शब्द का विवेचन भी किया है। विवेचन का भाव व्यापक है—ऋषियों के वचन मात्र आर्ष गिने जाते हैं और आचार्य हेमचन्द्र ने यह भी सूचित किया है कि "तच्च यथास्थानं दर्शयिष्यामः"—जो-जो आर्ष प्रयोग व्याकरण से नियंत्रित नहीं हैं, उनको प्रस्तुत व्याकरण में यथास्थान सूचन किया जाएगा। आर्ष-प्राकृत और छान्दसभाषा ये दोनों समान अर्थवाले शब्द हैं जैसे चंड ने तथा हेमचन्द्र ने 'आर्ष' शब्द का प्रयोग किया है वैसे जैन अंगसूत्रों के विवेचनकार आचार्य श्री शीलांक सूरि ने अपने विवेचन में अंगसूत्रों के प्रयोगों को 'छान्दस-

१. चंडप्रणीत प्राकृतलक्षण में उदाहरण के साथ बतलाया गया है कि "प्रथमाया द्वितीया आर्षे" सूत्र १७ तथा "सप्तम्या तृतीया आर्षे" सूत्र १८। ये दोनों सूत्र चंड ने स्वरविधान नामक दूसरे प्रकरण में बताये हैं। १७ वें सूत्र का उदाहरण—"चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीअंतु" तथा १८ वें सूत्र का उदाहरण—"तेणं कालेण तेणं समएणं" दिया है। ये दोनों उदाहरण क्रमशः अर्थात प्रथम उदाहरण आवश्यक सूत्र में है तथा द्वितीय उदाहरण भगवती, ज्ञाता वगैरह कई जैन अंगसूत्रों में उपलब्ध हैं। इन उदाहरणों से 'चंड जिनमार्गानुयायी था' यह भी स्पष्ट हो जाता है।

प्रयोग' के नाम से सूचित किया है। वे कहते हैं कि "छान्दसत्वात् तृतीयार्थे द्वितीया;" अगणिं च खलु पुट्ठा' इस वाक्य में 'अगणिं शब्द में 'अगणिणा' तृतीयांत पद होना जरूरी है तो भी छान्दस-आर्ष होने से इस पद में तृतीया के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। आचार्य शीलांक ने (हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती) ऐसे और भी विधान किये हैं और उन सब विधानों को 'छान्दस' शब्द से सूचित किया है। चंड ने अपने प्राकृतलक्षण में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण में सब आर्षप्रयोग नहीं दिखाए हैं परंतु बहुत थोड़े दिखाए हैं। प्रस्तुत आर्षप्राकृत-व्याकरण में जैन आगमों में जितने आर्ष या छांदस प्रयोग उपलब्ध होते हैं सबको अंगसूत्रों के क्रम से बताना है तथा उनकी साधना की प्रक्रिया का भी दिग्दर्शन कराना है। इस में विशेष सहायक पालिव्याकरण, पालिशब्दकोश तथा बौद्ध पिटकसाहित्य भी होगा अतः प्रस्तुत लेख में यथास्थान उनका भी उल्लेख किया जायगा। सबसे प्रथम आचारांग सूत्र के आर्षप्रयोगों से आरम्भ होगा। जहाँ जिस प्रयोग की चर्चा होगी वहाँ स्थलनिर्देश भी कर दिया जायगा। प्रस्तुत में आगामोदय समिति से प्रकाशित आचारांग का तथा प्रो० शुब्रिंग द्वारा संशोधित-सम्पादित आचारांग का उपयोग किया जायगा।

— क्रमशः

•

जैसे अग्नि और पवन के प्रयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त आत्मा पाप से विशुद्ध होती है।

× × × ×

उलूक जिसकी प्रशंसा करें और कौवे जिसकी निन्दा करें, वह निंदा और प्रशंसा दोनों ही हवा की भाँति उड़ जाती हैं।

विषधर के विष से भी भयानक

●

श्री रूपनारायण वर्मा 'वेणु'

राजनर्तकी मधुमालिनी ने हँसते हुए कहा—महाराज चन्द्रकान्तजी, आपने विषय को जीवन की परिधि में बाँध रखा है परन्तु यह विषधर के विष से भी भयानक विषयभोग है–इससे व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, क्षणिक तृप्ति इससे अवश्य होती है।

तब चन्द्रकान्त ने कहा—देवि ! तुम्हारे विचार मधुर व न्यायसंगत हैं, परन्तु उसे रोका भी नहीं जा सकता, कामना ही इसका अव्यक्त स्रोत है। वह धीरे-धीरे मनुष्य के जीवन को अपनी ओर वशीभूत कर लेता है, व्यक्ति इससे व्यथित होता है--शान्ति की मृगतृष्णा में इसके पीछे भटकते रहता है–परन्तु वहाँ शान्ति कहाँ ? क्योंकि मृगमरीचिका में अतृप्त प्यास का दर्शन होता है, तृप्ति का नहीं क्योंकि रूप स्वयं अतृप्त है, क्षणिक है। नाश से ही इसकी उत्पत्ति है - वह धन के द्वारा वशीभूत होता है और उसके नष्ट होते ही विनष्ट हो जाता है।

नारी रूप की क्रीत दासी है, वह उसे सुन्दर बनाने में अपना अमूल्य समय नष्ट करती है, उसकी दृष्टि में रूप शाश्वत है परन्तु यह उसका भ्रम है।

तब राजनर्तकी मधुमालिनी ने कहा—देव ! जीवन की प्रत्येक वस्तुएँ उस विराट आत्मा का अंश है, जो टूटती और बनती रहती हैं कुछ सत्य को लेकर चलती हैं, कुछ झूठ के साथ चलकर नष्ट हो जाती हैं। संसार दर्पण की तरह है और व्यक्ति उसकी प्रतिच्छाया, एक में आकर्षण है और दूसरे में जिज्ञासा।

तब महाराज ने कहा—देवि ! जीवन की रूपरेखा अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा रेखांकित है। एक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में निर्माण करता है और दूसरा ज्ञान के सुधा-सोपान में इसे स्थिर करता है—सत्य ही इसका मार्ग है और न्याय ही इसके दिव्य नेत्र हैं।

तब आर्यश्रेष्ठ नर्तकी मधुमालिनी ने कहा—महाराज, बाह्य दृष्टिकोण से संसार और व्यक्ति का जीवन सुन्दर दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में यह

कुछ और ही है। वह विषयभोग को जीवन का लक्ष्य समझता है परन्तु वास्तव में मानवीय विकास करना ही उसका प्रथम कर्तव्य है। मैं उसे ही जीवन में श्रेष्ठ व्यक्ति मानती हूँ जो स्वयं अपने जीवन की रूपरेखा बनाए और अपने मार्ग को प्रशस्त करे क्योंकि चरित्र समाज का दर्पण है और सत्य उसकी कसौटी।

एक समाज के विकास में अपने जीवन का अधिकांश भाग समाप्त कर देता है फिर भी वह आत्म-संतोष प्राप्त करता है और दूसरा छल, प्रपंच कर जीवन का निर्माण करता है परन्तु उसे वहाँ वह शान्ति नहीं मिलती है, जो शाश्वत है क्योंकि उसके जीवन को तृष्णा भ्रमित करती है, पद-पद पर ठोकरें देती है, क्रोध से उसकी आँखें जलती रहती हैं और वासना उसे अंधेरे में भटकाती है--वह सुख के पीछे पागल हो उठता है। परन्तु उसे वहाँ असंख्य नरक की भीषण ज्वाला मिलती है, जिसमें अतृप्तता के शंख बजते हैं और रूप के मुरझाये कमल, जिनमें गन्ध नहीं तृप्ति नहीं--बोध नहीं।

महाराज नर्तकी की वाणी सुनकर मौन थे और नर्तकी मन्त्रमुग्ध हो महाराज के रूप का निरीक्षण कर रही थी।

●

निन्दा और प्रशंसा वस्तु की अच्छाई और बुराई के प्रति नहीं है। अपने स्वार्थ की साधना अन्धेरे में होती देख उलूक रात्रि की ही प्रशंसा करेगा और कौवे के स्वार्थ में चूँकि क्षति होती है तो वह उसकी निंदा ही करेगा।

× × × ×

व्यक्ति समाज से तिरष्कृत होने पर दार्शनिक, शासन प्रताड़ित होने पर विद्रोही, परिवार से उपेक्षित होने पर महात्मा और नारी से अनादृत होकर देवता बनता है।

पुष्कर के सम्बन्ध में शोध

श्री अजित मुनि 'निर्मल'

पुष्कर, अजमेर (राजस्थान) से ७ मील की दूरी पर सुरम्य पहाड़ियों के बीच वैष्णव तीर्थस्थान है। यातायात का साधन मोटर व पदयात्रा है। काफी धर्मशालाएँ व मंदिर हैं। स्था० जैनों के करीब १८ घर हैं।

पद्मपुराण के 'पुष्कर-माहात्म्य' के अनुसार 'पुष्कर' को तीर्थराज और सभी तीर्थों का गुरु स्वीकार किया गया है। वैष्णव धर्म के दृष्टिकोण से इस स्थान के सम्बन्ध में कई कथाएँ व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो कि अपने ही ढंग से पुष्कर की पौराणिकता सिद्ध करती हैं।

मैंने यहाँ की पौराणिकता के बारे में गत चातुर्मास में पूछताछ भी की थी। परन्तु यहाँ के ब्रह्मा मन्दिर में सामग्री के प्रति उपेक्षा व अव्यवस्था के कारण प्रयत्न सार्थक न हो सका। स्थानीय व्यक्तियों की धारणाएँ व किंवदन्तियाँ दो बातों पर आधारित हैं—

पहली किंवदन्ती के अनुसार पुष्कर प्राचीन काल में 'पद्मावती नगर' के नाम से विख्यात था। अभी भी पद्मावती का मन्दिर पुष्कर क्षेत्र में है। 'पद्मावती' भगवान् पार्श्वनाथ की शासन अधिष्ठात्री देवी है। इसमें कभी सवा लाख जैनियों के घर थे। कोई भी निर्धन जैन यहाँ आता तो यहाँ के धनाढ्य व्यक्ति एक-एक रुपया और एक-एक ईंट देकर उसे अपने बराबर का लखपति बना लेते थे।

दूसरी किंवदन्ती के अनुसार सम्राट उदयन और सम्राट चण्ड प्रद्योत की सांवत्सरिक क्षमापनास्थली भी यही है।

मैं सोचता हूँ, पुष्कर क्षेत्र का पौराणिक महत्त्व जैन दृष्टि से भी काफी होगा और होना भी चाहिए। इसीलिए मैं जैन इतिहासज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि वे पुष्कर की पौराणिकता के सम्बन्ध में आवश्यक खोज करके समाज को परिचित करायें। प्रमाण निष्पक्ष रूप से अत्यन्त स्पष्ट और पुष्ट हों। उनमें संदिग्धता न हो और अनुमान, खोज की सच्चाई पर आधारित हो। यह खोज समाज और इतिहास के लिए आज के समय में एक नई देन होगी।

अहिंसा की परिणति—समन्वय और सत्याग्रह

काका कालेलकर

अहिंसा का प्रारम्भ कब कैसे हुआ यह हम नहीं जानते। अहिंसा यानी स्नेह, सेवा और आत्मीयता इतना तो स्पष्ट है। परन्तु इसका प्रारम्भ हुआ जीवदया से।

मनुष्य के पास शक्ति है, बुद्धि है। मनुष्य शस्त्र तैयार कर सका और छोटे-बड़े असंख्य प्राणियों को मारना उसने शुरू किया। प्राणीहत्या का प्रारम्भ शायद आत्मरक्षा से हुआ होगा और वह यथायोग्य माना गया। बाद में मनुष्य ने प्राणीहत्या शुरू की आहार के लिये। सब प्राणी आहार के लिये जीवहत्या करते हैं। बन्दर जैसे प्राणी वनस्पति खाकर जीते हैं इस लिये उन्हें आहार के लिये प्राणीहत्या करने की नहीं सूझी। परन्तु बन्दर के वंशज मनुष्य प्रगतिशील ठहरे। उन्होंने देखा पशु और पक्षी प्राणीहत्या करते ही हैं। आगे चलकर जलचरों में भी वही नियम पाया। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं। मनुष्य ने बिना पक्षपात के पशु, पक्षी और मछलियाँ तीनों को खानेका विचार किया और जलचर, भूचर और खेचर त्रिविध प्राणियों की हत्या शुरू की (और कुछ लोग तो मनुष्यको भी मार-कर खाने लगे)। उन्होंने सिद्धान्त किया 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। दूसरे की जान लेकर ही जी सकते हैं।

परन्तु इस सार्वभौम हत्याके खिलाफ जीवदया ने आवाज उठाई। उसने प्रथम मनुष्य-मांस का निषेध किया। नरमांस-भक्षकों को 'क्रव्याद' कहकर उन्हें राक्षसों की कोटि में रखा।

बाद में जीवदया का ध्यान आकृष्ट हुआ गाय, बैल, घोड़े आदि उपयोगी जानवरों की ओर। जो जानवर दूध देते हैं, वाहन खींचते हैं या सवारी के काम आते हैं उन्हें बचानें की बात मनुष्य को सूझी। बन्दर तो मनुष्य जैसे ही दीखते हैं। मनुष्य जैसी ही भावनाएँ वे दिखाते हैं इसलिए उनकी हत्या भी बन्द हुई। दयाभाव ने दलील की कि राम के सैनिकों को, हनुमान के अनु-यायियों को और सीताको बचाने वाले बन्दरों को कैसे मारा जाय? बन्दर शाकाहारी हैं यह दलील भी उनके बचाव के काम में लायी जा सकती है। जो पशु-पक्षी मांसाहारी हैं उन्हें खाने में मनुष्य हिचकिचाता है। भेड़, बकरी,

हिरन जैसे शाकाहारी जानवरों को ही खा डालना मनुष्य ने पसन्द किया है।

आहार के लिये प्राणियों को मारने का काम मनुष्य ने छोड़ा (अलबत्ता कुछ लोगों ने) यह एक अहिंसा की बड़ी सीढ़ी थी। पहले गाय को अघ्न्या कह कर बचाया। बाद में धीरे-धीरे तमाम पशु-पक्षियों को न मारने का तय किया और सबसे अन्त में मछलियों को भी अभयदान मिला।

ऐसे निरामिषाहारी लोग अगर कुछ हैं तो वे भारत में ही दिखाई देते हैं। योरप, अमेरिका आदि विदेशों में सभी जगह मांसाहार ही चलता है ऐसा कहना होगा। मांस न खानेवाले vegetarian भारत से बाहर की दुनियाँ में इतने कम हैं कि मनुष्य जातिका विचार करते हुए उनकी संख्या को कोई गिनती में लेता ही नहीं।

किसी ने सही कहा है कि भारत में मांस खानेवालों की संख्या न खाने वालों से अधिक है। न खानेवालों में एक ऐसा भी वर्ग है जिसे मांस मिलता नहीं इसलिए नहीं खाता, मिलने पर खाता ही है या तीज-त्यौहार पर खाता है।

जीवदया के कारण प्राणियों को न मारने वाले लोगों में जैन, वैष्णव, नामधारी सिख, महानुभाव सम्प्रदाय के लोग और अघोरी सम्प्रदाय के लोग भी हैं। अमुक-अमुक प्रदेशों में ब्राह्मण और कुछ बनिये मांस नहीं खाते। कुछ मांस नहीं खाते लेकिन मछली खाते हैं। यह हालत है हमारे देश की।

और फिर भी इन जीवदयावाले, निरामिषभोजी लोगों को अहिंसा के नाम युद्ध टालने की सूझी ही नहीं। जैन राजा फौज रखते थे। ब्राह्मण राजा परशुराम की तरह प्राचीनकाल से आज पर्यन्त लड़ाई में भाग लेते ही हैं।

'इस युद्ध में मैं शस्त्र धारण नहीं करूँगा' ऐसा पुख्ता वय में कहने वाले अकेले श्रीकृष्ण ही निकले। आत्मरक्षा के लिये भी शस्त्र-युद्ध में भाग नहीं लिया जा सकता यह अहिंसावृत्ति विदेश के पैसिफिस्ट लोगों में विकसित हुई। भारत में इसका प्रचार किया महात्मा गान्धी ने जिसका इतिहास और भावी क्या है वह हम आज के भारतवासी जानते ही हैं। इसीलिए हिन्दू शब्द की निरुक्ति यथार्थ है – हिन्दू वह है जो हिंसा न करे सो बात नहीं परन्तु हिंसा करते जिसके दिल में दर्द होता है—

हिंसया दूयते चित्तम् यस्यासौ हिन्दुरीरितः।

यह है आज की अहिंसा की भूमिका। इसमें सिर्फ मारने की और खाने की ही बात सोची जाती है। अमुक जैनियों ने जीव कहाँ-कहाँ है इसकी

पने जमाने की वैज्ञानिक खोज चलायी। आलू, बैंगन जैसी बहुबीज वाली नस्पतियों का आहार छोड़ दिया, ये सब भी नोट करने जैसे हैं। परन्तु अब हमें मारने-खाने के अलावा व्यापक अहिंसा का विचार करना चाहिये जिसका चिंतन अब कुछ करेंगे।

हिंसा यानी द्रोह। मुझे जीना है और सफल होना है इसलिए दूसरे के जीने-सफल होने के अधिकार को छीनना यह द्रोह है, हिंसा है। अपने जीने और सफल होने के लिये दूसरे के हक को छीनना कितना भी स्वाभाविक हो, प्राकृतिक या कुदरती हो, तो भी उसमें अन्याय है इस तरह की धर्मबुद्धि मनुष्य में उगी उसे हम कहते हैं अहिंसा या अद्रोह। उसका—अहिंसा-अद्रोह का पूर्ण-स्वरूप कहता है कि दूसरे के जीने और सफल होने के अधिकार को स्वीकार करते हुये मुझे खुद को जीने व सफल होनेका जितना मौका मिलेगा उतने ही का मैं उपयोग करूँगा। दूसरे को जिलाकर मैं जीऊँगा, दूसरे को सफल बनाकर मैं सफल होऊँगा। इसके लिये मैं अपनी सारी शरीरशक्ति, बुद्धिशक्ति, और संगठनशक्ति खर्च करूँगा और आखिर जब बिलकुल जरूरी हो तो स्वार्थत्याग करूँगा। अपने प्राण न्योछावर करने तक, स्वार्थत्याग और स्वासुत्याग इसमें है अहिंसा की पूर्णता या परिणति। इसी के बारे में अब कुछ सोचना है।

'जीवो जीवस्य जीवनम्' के अनुसार जीना हो तो स्थूल या सूक्ष्म जीवहत्या किए बिना चारा नहीं है यह प्रकृति की परिस्थिति हमने जान ली, उसे नोट कर लिया; पर साथ ही संकल्प किया कि इस परिस्थिति में से हो सके उतना बाहर निकल जाना इसी में पुरुषार्थ है, उसी में मानवता है, उसी में जीवन की कृतार्थता है। हिंसा हो सके उतनी कम करते जाना, टालते जाना इसमें जीवनसिद्धि है इस बात को स्वीकार करना इसे हम अहिंसा धर्म कहते हैं।

जीने के लिए हम खाते हैं, आहार करते हैं यह ठीक है, परन्तु इसके लिए आहार प्राप्त करना पड़ता है। उसे कहते हैं आजीविका। शिकार और मच्छीमारी से लेकर खेती तक, लूटपाट से लेकर युद्ध तक और इससे भी बढ़कर उद्योग-हुनर से लेकर व्यापार-उद्यम तक की सब प्रवृत्तियों का आजीविका में समावेश होता है।

तदुपरान्त अहिंसा की दृष्टि से सेवा, सहयोग, ज्ञानदान इत्यादि जो प्रवृत्तियाँ मुकर्रर हुई हैं उनका भी उपयोग हम आजीविका प्राप्त करने के लिए करते हैं।

व्यापक अर्थ की इस आजीविका के लिए संघर्ष, स्पर्धा, खींचातान और अहंश्रेयसी चलते हैं। यह सब टालकर स्पर्धा की जगह सहयोग, संघर्ष की जगह समुच्चय और समन्वय और अहंश्रेयसी की जगह आत्म-विलोपन करना यह सब अहिंसा में आ जाता है। इसी का हम विस्तार से और गहराई में जाकर चिन्तन करेंगे।

जहाँ जीवन है वहाँ पगपग पर टक्करें होंगी ही। चकमक और लोहे के संघर्ष से जिस प्रकार चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार टक्कर में से संघर्ष और हिंसा पैदा होते हैं। जहाँ आत्मीयता है, समझ है, भलाई है वहाँ आदमी टक्कर टालने के लिए समझौता करता है। प्रायः समझौता लाचारी से किया जाता है। कभी उदारता से तो कभी दीर्घदृष्टिमय स्वार्थ से भी समझौता किया जाता है।

इसके अलावा जीवन-विज्ञान की दृष्टि से भी संघर्ष टालकर सहयोग करने का रास्ता निकलता है जिसे कहते हैं समन्वय। समन्वय अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट साक्षात्कार है। जहाँ-जहाँ संघर्ष पैदा होता है वहाँ-वहाँ अगर दोनों पक्ष, सब पक्ष समझदार हों, न्यायप्रेमी और न्यायकारी हों, सबके प्रति आत्मीयता बढ़ाने वाले उदार दिल के हों तो उन्हें समन्वय सूझेगा ही, या कोई सुझायेगा तो प्रसन्नता से पसन्द आयेगा ही। युद्ध टालने के लिए हम जो विष्टियाँ चलाते हैं यह बहुतांश में शुद्ध रूप में समन्वय की ही प्रवृत्ति होती है।

अहिंसा को मानने वाले लोगों ने आज तक जीवदया का चिन्तन बहुत किया। अब अहिंसा के उपासकों और युद्धविरोधी शान्ति के उपासकों को चाहिए कि वे समन्वय का चिन्तन और बीजारोपण करें। अहिंसा के वास्ते हमारे युग की यह प्रधान साधना होगी।

किसी के असह्य टेढ़ेपन के कारण अहिंसा-प्रेरित, जीवनपरायण समन्वय जब अशक्यसा बनता है तब समन्वय का अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिए 'अहिंसक संघर्ष' का रास्ता गाँधी जी ने ढूंढ़ निकाला और उसे नाम दिया 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह इस युग की भारी से भारी आध्यात्मिक खोज—ईजाद है। समन्वय के लिए ही वह है। 'जो पक्ष समन्वय में मानता है उसी को सत्याग्रह करने का अधिकार है,' ऐसा सिद्धान्त समझने का और चलाने का जमाना अब आ गया है।

'मंगल प्रभात' से

गुणव्रत

डा० मोहनलाल मेहता

अणुव्रतों की रक्षा तथा विकास के लिए जैन आचारशास्त्र में गुणव्रतों की व्यवस्था की गई है। गुणव्रत तीन हैं: १. दिशा-परिमाण व्रत, २. उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत, ३. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि इनसे अणुव्रतरूप मूलगुणों की रक्षा तथा विकास होता है। अथवा अणुव्रतों की भावनाओं के रूप में अथवा उन भावनाओं की दृढ़ता के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। इनकी उपस्थिति में अणुव्रतों की रक्षा विशेष सरलता से हो सकती है।

दिशा-परिमाण :

अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसायादि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं की मर्यादा निश्चित करना दिशा-परिमाण व्रत है। इस गुणव्रत से परिग्रह-परिमाणरूप पाँचवें अणुव्रत की रक्षा होती है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित होजाने पर तृष्णा पर स्वतः नियन्त्रण हो जाता है। तृष्णा पर नियन्त्रण होने पर संग्रह की भावना पर प्रतिबन्ध लगने में कोई देर नहीं लगती। इस प्रकार इच्छा-परिमाण अथवा परिग्रह-परिमाणरूप पंचम अणुव्रत की दृढ़ता के लिए दिशा-परिमाणरूप गुणव्रत आवश्यक है। दूसरे शब्दों में दिशा-परिमाण व्रत इच्छा-परिमाण व्रत की ही एक भावना अथवा गुणविशेष है जिससे परिग्रह-नियन्त्रण में सहायता मिलती है।

दिशा-परिमाण व्रत के निम्नोक्त पाँच अतिचार हैं: १. ऊर्ध्वदिशा-परिमाण-अतिक्रमण, २. अधोदिशा-परिमाण-अतिक्रमण, ३. तिर्यग्दिशा-परिमाण-अतिक्रमण, ४. क्षेत्रवृद्धि, ५. स्मृत्यन्तर्धा। प्रमादवश अथवा अज्ञान के कारण ऊँची दिशा के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करने पर लगने वाले दोष का नाम ऊर्ध्वदिशा-परिमाण-अतिक्रमण है। नीची दिशा के परिमाण का उल्लंघन करने पर जो दोष लगता है उसे अधोदिशा-परिमाण-अतिक्रमण कहते हैं। ऊँची व नीची दिशाओं के अतिरिक्त पूर्वादि समस्त दिशाओं

के परिमाण का उल्लंघन करना तिर्यग्दिशा परिमाण-अतिक्रमण है। एक दिशा के परिमाण का अमुक अंश दूसरी दिशा के परिमाण में मिला देना व इस प्रकार मनमाने ढंग से क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। सीमा का स्मरण न रहने पर लगने वाले दोष अर्थात् अतिचार का नाम स्मृत्यन्तर्धा है। 'मैंने सौ योजन की मर्यादा का व्रत ग्रहण किया है या पचास योजन की मर्यादा का' इस प्रकार का संदेह होने पर अथवा स्मरण न होने पर पचास योजन से आगे न जाना ही अनुमत है, चाहे वास्तव में मर्यादा सौ योजन की ही क्यों न हो। यदि अज्ञान अथवा विस्मृति से क्षेत्र के परिमाण का उल्लंघन हुआ हो तो वापिस लौट आना चाहिए, मालूम होने पर आगे न जाना चाहिए, न किसी को भेजना ही चाहिए। वैसे ही कोई गया हो तो उसके द्वारा प्राप्त वस्तु का उपयोग भी नहीं करना चाहिए। विस्मृति के कारण खुद गया हो व कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी त्याग कर देना चाहिए।

उपभोगपरिभोग-परिमाण :

जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं। बार-बार काम में आने वाली वस्तु को परिभोग कहा जाता है। उपभोग एवं परिभोग की मर्यादा निश्चित करना उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत है। इस व्रत से अहिंसा एवं संतोष की रक्षा होती है। इससे जीवन में सरलता एवं सादगी आती है तथा व्यक्ति को महारम्भ, महापरिग्रह तथा महातृष्णा से मुक्ति मिलती है। शास्त्रकारों ने उपभोगपरिभोगसम्बन्धी २६ प्रकार की वस्तुओं की गिनती की है। श्रावक को इन वस्तुओं की तथा इनके अतिरिक्त और भी जितनी वस्तुएँ उसके काम में आती हों उन सबकी मर्यादा निश्चित कर लेनी चाहिए जिससे उसके जीवन में हमेशा शान्ति एवं सन्तोष विद्यमान रहे। मर्यादा निश्चित करने में विवेक का विशेष उपयोग करना चाहिए। जिनमें अधिक हिंसा और प्रपंच की संभावना हो उन पदार्थों का त्याग करना चाहिए तथा अल्पारंभ व अल्प प्रपंचयुक्त वस्तुओं का मर्यादापूर्वक सेवन करना चाहिए। उपभोगपरिभोगसम्बन्धी वस्तुओं के २६ प्रकार ये हैं : १. शरीर आदि पोंछने का अंगोछा आदि, २. दाँत साफ करने का मंजन आदि, ३. फल, ४. मालिश के लिए तेल आदि, ५. उबटन के लिए लेप आदि, ६. स्नान के लिए जल, ७. पहनने के वस्त्र, ८. विलेपन के लिए चंदन आदि, ९. फूल, १०. आभरण,

११. धूप-दीप, १२. पेय, १३. पक्वान्न, १४. ओदन, १५. सूप अर्थात् दाल, १६. घृत आदि विगय, १७. शाक, १८. माधुरक अर्थात् मेवा, १९. जेमन अर्थात् भोजन के पदार्थ, २०. पीने का पानी, २१. मुखवास, २२. वाहन, २३. उपानत् अर्थात् जूता, २४. शय्यासन, २५. सचित्त वस्तु, २६. खाने के अन्य पदार्थ।

उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत के भी पाँच प्रधान अतिचार हैं : १ सचित्ताहार, २ सचित्त-प्रतिबद्धाहार, ३ अपक्वाहार, ४ दुष्पक्वाहार, ५ तुच्छौषधिभक्षण। ये अतिचार भोजन सम्बन्धी हैं। जो सचित्त वस्तु मर्यादा के अन्दर नहीं है उसका भूल से आहार करने पर सचित्ताहार दोष लगता है। त्यक्त सचित्त वस्तु से संसक्त अर्थात् लगी हुई अचित्त वस्तु का आहार करने पर सचित्त-प्रतिबद्धाहार दोष लगता है, जैसे वृक्ष से लगा हुआ गोंद, गुठली सहित आम, पिण्डखजूर आदि खाना। सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके आहार का सेवन करने पर अपक्वाहार दोष लगता है। अथवा हरे अर्थात् कच्चे शाक, फल आदि का त्याग होने पर बिना पके फल आदि का सेवन करने पर अपक्वाहार अतिचार लगता है। इसी प्रकार अर्धपक्व आहार का सेवन करने पर दुष्पक्वाहार दोष लगता है। जो वस्तु खाने में कम आए तथा फेंकने में अधिक जाए अर्थात् खाने के लिए ठीक तरह से तैयार न हुई हो ऐसी वस्तु का सेवन करने पर तुच्छौषधिभक्षण अतिचार लगता है। उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत के आराधक को इन अतिचारों से बचना चाहिए। अतिचार सेवन का प्रसंग उपस्थित होने पर आलोचना एवं प्रतिक्रमणरूप पश्चात्ताप अर्थात् प्रायश्चित्त करना चाहिए।

उपभोग एवं परिभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए किसी न किसी प्रकार का कर्म अर्थात् व्यापार—व्यवसाय--उद्योग--धंधा करना ही पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारम्भ होता हो – स्थूल हिंसा होती हो--अधिक पाप होता हो वह व्यवसाय श्रावक के लिए निषिद्ध है। इस प्रकार के व्यवसायों से महान् अशुभ कर्मों का उपार्जन होता है अतः इन्हें शास्त्रकारों ने कर्मादान कहा है। उपासकदशांग में निम्नलिखित १५ कर्मादान श्रावक के लिए वर्जित किये गए हैं : १ अंगारकर्म, २ वनकर्म, ३ शकटकर्म, ४ भाटककर्म, ५ स्फोटककर्म, ६ दंतवाणिज्य, ७ लाक्षावाणिज्य, ८ रसवाणिज्य, ९ केशवाणिज्य, १० विषवाणिज्य, ११ यन्त्रपीडनकर्म १२ निर्लांछनकर्म, १३ दावाग्निदानकर्म, १४ सरोह्रदतडागशोषणताकर्म, १५ असतीजनपोषणताकर्म। अंगारकर्म

अर्थात् अग्निसम्बन्धी व्यापार जैसे—कोयले बनाना, ईंटें पकाना आदि। वनकर्म अर्थात् वनस्पतिसम्बन्धी व्यापार जैसे—वृक्ष काटना, घास काटना आदि। शकटकर्म अर्थात् वाहनसम्बन्धी व्यापार जैसे—गाड़ी, मोटर, तांगा, रिक्शा वगैरह बनाना आदि। भाटककर्म अर्थात् वाहन किराये पर देना आदि। स्फोटककर्म अर्थात् भूमि के फोड़ने का व्यापार जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय करना आदि। दंतवाणिज्य अर्थात् हाथीदाँत आदि का व्यापार। लाक्षावाणिज्य अर्थात् लाख आदि का व्यापार। रसवाणिज्य अर्थात् मदिरा आदि का व्यापार। केशवाणिज्य अर्थात् बालों व बालवाले प्राणियों का व्यापार। विषवाणिज्य अर्थात् जहरीली वस्तुओं तथा हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार। यन्त्रपीडनकर्म अर्थात् मशीन चलाने आदि का धन्धा। निर्लांछनकर्म अर्थात् प्राणियों के अवयवों को छेदने, काटने आदि का व्यवसाय। दावाग्निकर्म अर्थात् जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य। सरोह्रदतडागशोषणताकर्म अर्थात् सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य। असतीजनपोषणताकर्म अर्थात् कुलटा स्त्रियों के पोषण, हिंसक प्राणियों के पालन, समाजविरोधी तत्त्वों के संरक्षण आदि का कार्य। श्रावक के लिए इन सब प्रकार के व्यवसायों व इनसे मिलते-जुलते अन्य प्रकार के कार्यों का निषेध इसलिए किया गया है कि इनके गर्भ में महती हिंसा भरी हुई है। इस प्रकार के हिंसापूर्ण कृत्यों से करुणा सम्पन्न श्रावक अपनी आजीविका कैसे चला सकता है? इन सब व्यवसायों का त्याग करने पर गृहस्थ का जीवन कितना सरल, सादगीपूर्ण एवं सात्विक हो जाता है, इसकी कल्पना करना आज के युग के मनुष्य के लिए अति कठिन है। उसके लिए कुछ ही ऐसे लघु उद्योग एवं छोटे-मोटे सात्विक व्यवसाय रह जाते हैं जिनके द्वारा वह बिना किसी आडम्बर के सीधा-सादा जीवन बिता सकता है। उसका जीवन कितना पवित्र एवं प्रेरणाप्रद होगा, यह गाँधी जी के जीवन की एक झलक से समझा जा सकता है। गाँधी जी की अहिंसक समाज की कल्पना कुछ-कुछ इसी ढंग की है। उपर्युक्त १५ कर्मादानों में कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिन्हें यदि विवेकपूर्वक एवं विशिष्ट साधनों की सहायता से किया जाय तो स्थूल हिंसा का उपार्जन नहीं होता। व्यवसाय कोई भी हो, यदि उसमें दो बातें दृष्टिगोचर हों तो वह श्रावक के लिए आचरणीय है। पहली बात यह है कि उसमें स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा न होती हो अथवा कम से कम होती हो। दूसरी बात यह है कि उसके द्वारा किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा

समाज का शोषण न होता हो अथवा कम-से-कम होता हो। इस प्रकार का शोषण प्रत्यक्षतः हिंसा भले ही न हो किन्तु परोक्षतः हिंसा ही है। इस प्रकार की हिंसा कभी-कभी साधारण स्थूल हिंसा से भी भारी हो जाती है। कौन-सा व्यवसाय श्रावक के करने योग्य है और कौन-सा न करने योग्य, इसका निर्णय मुख्यतः इन दो दृष्टियों से ही करना चाहिए।

अनर्थदण्ड-विरमण :

अपने अथवा अपने कुटुम्ब के जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाले अनिवार्य सावद्य अर्थात् हिंसापूर्ण व्यापार-व्यवसाय के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतः अहिंसा एवं अपरिग्रह का पोषण होता है। अनर्थदण्ड-विरमण-व्रतधारी श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है क्योंकि इस प्रकार के संग्रह से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की बताई गई हैं : अपध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंसाप्रदान और पापकर्मोपदेश। अपध्यान अर्थात् कुध्यान। ध्यान के चार प्रकार हैं : आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान व शुक्लध्यान। इनमें से प्रथम दो ध्यान अशुभध्यान—अहितकरध्यान हैं तथा बाद के दो ध्यान शुभध्यान—कल्याणप्रद ध्यान। आर्तध्यान चार प्रकार का है : इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोगचिन्ता और निदान। प्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए शोकाकुल रहना इष्टवियोग-आर्तध्यान है। अप्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए व्याकुल रहना अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है। शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा दूर करने की व्याकुलता को रोगचिन्ता-आर्तध्यान कहते हैं। अप्राप्त विषयों को प्राप्त करने की कामना से तीव्र संकल्प करना निदान-आर्तध्यान है। रौद्रध्यान अर्थात् क्रूरतापूर्ण चिन्तन। जिसका मन क्रूर होता है वह रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति का ध्यान रौद्रध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी आदि से सम्बन्धित चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें क्रोध, ईर्ष्या, कपट, लोभ, अहंकार आदि क्रूर वृत्तियों की विद्यमानता होती है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान का सेवन ही अपध्यानाचरण है। प्रमादाचरण अर्थात् आलस्य का सेवन। शुभ प्रवृत्ति में आलस्य रखना अर्थात् शुभ प्रवृत्ति करना ही नहीं अथवा असावधानीपूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना प्रमादाचरण है। इसका विधेयात्मक रूप अशुभ कार्यों में उद्यमशील रहना है।

हिंसाप्रदान का अर्थ है किसी को हिंसक साधन जैसे—अस्त्र, शस्त्र, विष आदि देकर हिंसक कृत्यों में सहायक होना। जिस उपदेश से सुनने वाला पापकर्म में प्रवृत्त हो वैसा उपदेश देना पापकर्मोपदेश कहलाता है। जैसे हिंसा से विरत व्यक्ति किसी को हिंसक साधन देकर हिंसक कृत्यों में सहायक नहीं होता उसी प्रकार पापकर्म से निवृत्त व्यक्ति किसी को पापकर्म का उपदेश देकर पापपूर्ण कृत्यों में सहायक नहीं बनता। इस प्रकार अपध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंसाप्रदान व पापकर्मोपदेश तथा इसी प्रकार की अन्य निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमणव्रती के लिए आवश्यक है। अन्य व्रतों की भाँति अनर्थदण्ड-विरमण व्रत के भी पाँच प्रधान अतिचार हैं: १. कंदर्प, २. कौत्कुच्य, ३. मौखर्य, ४. संयुक्ताधिकरण, ५. उपभोगपरिभोगातिरिक्त। विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना कंदर्प है। विकारवर्धक चेष्टाएँ करना या देखना कौत्कुच्य है। असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना मौखर्य है। जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती है उन्हें संयुक्त कर रखना संयुक्ताधिकरण है। उदाहरण के लिए बंदूक के साथ कारतूस, धनुष् के साथ तीर संयुक्त कर रखना। आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री संग्रह करना उपभोगपरिभोगातिरिक्त है। ये सब अतिचार निरर्थक हिंसा का पोषण करनेवाले हैं अतः श्रमणोपासक को इनसे बचना चाहिए।

●

शील ही जिसका अक्ष है, ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं, ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने आपको जीतती है और शुभस्थिति को प्राप्त करती है।

पिंडनिर्युक्ति

डा० जगदीशचन्द्र जैन

पिंडनिज्जुत्ति—पिंडनिर्युक्ति जैन आगमों का चौथा मूलसूत्र माना जाता है। कभी ओधनिर्युक्ति को भी इसके स्थान पर स्वीकार किया जाता है। पिंड का अर्थ है भोजन। इस ग्रंथ में पिंडनिरूपण, उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष, एषणा-दोष और ग्रासैषणा-दोषों का प्ररूपण किया गया है। इसमें ६७१ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ एक दूसरे में मिल गई हैं। पिंडनिर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु हैं। दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम पिंडैषणा है। इस अध्ययन पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण उसे पिंडनिर्युक्ति के नाम से एक अलग ही ग्रंथ स्वीकार कर लिया गया है।

आठ अधिकार :

पिंडनिर्युक्ति के आठ अधिकार ये हैं— उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण (१)। पिंड के नौ भेद इस प्रकार हैं— पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (९-४७)। द्वीन्द्रिय जीवों में अक्ष (चन्दनक), सीपी, शंख आदि, त्रीन्द्रिय जीवों में दीमक का घर (सर्पदंश को शांत करने के लिए) आदि, चतुरिन्द्रिय जीवों में मक्खी की विष्ठा (वमन के लिए) आदि एवं पंचेन्द्रिय जीवों में चर्म (क्षुर—उस्तरा आदि रखने के लिए), हड्डी (हड्डी टूट जाने पर बाहु आदि में बाँधने के लिए), दंत, नख, रोम, सींग (मार्ग-परिभ्रष्ट साधु को बुलाने के लिए सींग का बाजा बजाया जाता था), भेड़ की लेंड़ी, गोमूत्र (कोढ़ आदि दूर करने के लिए), क्षीर, दधि आदि का उपयोग साधु करते थे (४८-५०)। मिश्र पिंड में सौवीर (कांजी), गोरस, आसव (मद्य), वेसन (जीरा, नमक आदि), औषधि, तेल आदि, शाक, फल, पुद्गल (मांस—टीका), लवण, गुड़ और ओदन का उपयोग होता है (५४)।

उद्गम-दोष :

एषणा अर्थात् निर्दोष आहार की खोज (७२-८४)। उद्गम-दोष सोलह प्रकार का है - आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, स्थापना, प्राभृतिका, प्रादुष्करण, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, अभ्याहृत, उद्भिन्न, मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट व अध्यवपूरक (९३)। आधाकर्म—दानादि के निमित्त तैयार किया हुआ भोजन (९४-२१७)। औदेशिक—साधु के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन (२१८-२४२)। पूतिकर्म—पवित्र वस्तु में अपवित्र वस्तु को मिलाकर देना (२४३-२७०)। मिश्रजात—साधु और कुटुंबी जनों के लिए एकत्र भोजन बनाना (२७१-२७६)। स्थापना—साधु को भिक्षा में देने के लिए रखी हुई वस्तु (२७७-२८३)। प्राभृतिका—बहुमानपूर्वक साधु को दी जाने वाली वस्तु २८४-२९१)। प्रादुष्करण—मणि आदि का प्रकाश कर अथवा भित्ति आदि को हटाकर दी जाने वाली वस्तु (२९२-३०५)। क्रीत—खरीदी हुई वस्तु को भिक्षा में देना (३०६-३१५)। प्रामित्य—उधार ली हुई वस्तु को भिक्षा में देना (३१६-३२२)। परिवर्तित - बदल कर ली हुई वस्तु को भिक्षा में देना (३२३-३२८)। अभ्याहृत—अपने अथवा दूसरे के गाँव से लाई हुई वस्तु (३२९-३४६)। उद्भिन्न—लेप आदि हटाकर प्राप्त की हुई वस्तु (३४७-३५६)। मालापहृत—ऊपर चढ़कर लाई हुई वस्तु (३५७-३६५)। आच्छेद्य - दूसरे से छीन कर दी हुई वस्तु (३६६-३७६)। अनिसृष्ट—जिस वस्तु के बहुत से मालिक हों (३७७-३८७)। अध्यवपूरक—साधु के लिए अतिरिक्त रूप से भोजन आदि का प्रबंध करना (३८८-३९१)।

उत्पादन-दोष :

उत्पादन-दोष के सोलह भेद हैं—धात्री, दूती, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वसंस्तव, पश्चात्संस्तव, विद्या, मन्त्र, चूर्ण, योग और मूलकर्म (४०८-४०९)। धात्रियाँ पाँच होती हैं—क्षीर-धात्री, मज्जन-धात्री, मंडन-धात्री, क्रीडन-धात्री व अंक-धात्री। भिक्षा के समय धात्री का कार्य करके भिक्षा प्राप्त करना यह धात्री-पिण्डदोष है। संगमसूरि छोटे बालक के साथ क्रीड़ा करके भिक्षा लाते थे, पता लगने पर उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा (४१०-४२७)। समाचार ले जाकर प्राप्त की हुई भिक्षा को दूतीपिण्ड दोष कहते हैं। धनदत्त मुनि इस प्रकार भिक्षा ग्रहण करते थे (४२८-४३४)। भविष्य आदि बताकर प्राप्त की हुई भिक्षा को

निमित्तपिण्ड दोष कहते हैं (४३५-६)। जाति, कुल, गुण, कर्म और शिल्प की समानता बताकर भिक्षा ग्रहण करना आजीवपिंड दोष है (४३७-४४२)। वनीपक पाँच होते हैं—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान। श्रमण आदि का भक्त बनकर भिक्षा लेना वनीपक दोष है (४४३-४४४)। श्रमण पाँच होते हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, परिव्राजक और आजीवक (४४५)। गाय आदि पशुओं को तो सब लोग घास खिलाते हैं लेकिन कुत्ते को कोई नहीं पूछता। यह मानकर कुत्ते के भक्त कुत्तों की प्रशंसा करते हैं। ये कुत्ते गुह्यक बनकर कैलाश पर्वत से इस भूमि पर अवतीर्ण हुए हैं; ये यक्ष रूप धारण कर भ्रमण करते हैं। इसलिए इनकी पूजा करना हितकारक है; जो इनकी पूजा नहीं करते उनका अमंगल होता है (४५१-२)। चिकित्सा द्वारा भिक्षा प्राप्त करने को चिकित्सापिंड दोष कहते हैं (४५६-४६०)। क्रोध द्वारा भिक्षा प्राप्त करना क्रोधपिंड दोष, मान द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मानपिंड दोष, माया द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मायापिंड और लोभ द्वारा भिक्षा प्राप्त करना लोभ-पिंड दोष है। क्रोध आदि पिंड द्वारा भिक्षा ग्रहण करने वाले साधुओं के उदाहरण दिए गए हैं (४६१-४८३)। भिक्षा के पूर्व दाता की श्लाघा द्वारा भिक्षा प्राप्त करना पूर्वसंस्तव व भिक्षा के पश्चात् दाता की श्लाघा द्वारा भिक्षा प्राप्त करना पश्चात्संस्तवपिंड दोष कहा जाता है (४८४-४९३)। विद्या के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना विद्यापिंड दोष और मन्त्र के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मन्त्रपिंड दोष है। यहाँ पर प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड की शिरोवेदना दूर करने वाले पादलिप्त सूरि का उदाहरण दिया गया है (४९४-४९९)। चूर्ण-पिंड दोष में दो क्षुल्लकों का और योगपिंड दोष में समित सूरि का उदाहरण दिया गया है (५००-५०५)। वशीकरण द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मूलकर्म-पिंड दोष कहलाता है। इसके लिए जंघापरिजित नामक साधु का उदाहरण दिया गया है (५०६-५१२)।

एषणा–दोष :

एषणा-दोष के दस प्रकार हैं—शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्रित, अपरिणत, लिप्त और छर्दित (५२०)। शंकायुक्त चित्त से भिक्षा ग्रहण करना शंकित दोष है (५२१-५३०)। सचित्त पृथ्वी आदि अथवा घृत आदि से लिप्त भिक्षा ग्रहण करना म्रक्षित दोष है (५३१-५३९)। सचित्त के ऊपर रखी हुई वस्तु ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है (५४०-५५७)।

सचित्त से ढकी हुई वस्तु ग्रहण करना पिहित दोष है (५५८-५६२)। अन्यत्र रखी हुई वस्तु को ग्रहण करना संहृत दोष है (५६३-५७१)। बाल, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, काँपते हुए शरीर वाला, ज्वर से पीड़ित, अंधा, कोढ़ी, खड़ाऊ पहने हुए, हाथों में बेड़ी पहने हुए, पाँवों में बेड़ी पहने हुए. हाथ-पाँव रहित और नपुंसक तथा गर्भिणी, जिसकी गोद में शिशु हो, भोजन करती हुई, दही बिलोती हुई, चने आदि भूनती हुई, आटा पीसती हुई, चावल कूटती हुई, तिल आदि पीसती हुई, रूई धुनती हुई, कपास ओटती हुई, कातती हुई, पूनी बनाती हुई, छः काय के जीवों को भूमि पर रखती हुई, उन पर गमन करती हुई, उनको स्पर्श करती हुई, जिसके हाथ दही आदि से सने हों इत्यादि दाताओं से भिक्षा ग्रहण करने को दायक दोष कहते हैं (५७२-६०४)। पुष्प आदि से मिश्रित भिक्षा ग्रहण करने को उन्मिश्रित दोष कहते हैं (६०५-६०८)। अप्रासुक भिक्षा ग्रहण करने को अपरिणत दोष कहते हैं (६०९-६१२)। दही आदि से लिप्त भिक्षा ग्रहण करना लिप्त दोष है (६१३-६२६)। छोड़े हुए आहार का ग्रहण करना छर्दित दोष है (६२७-६२८)। आगे ग्रासैषणा (६२९-६३५), संयोजना अर्थात् स्वाद के लिए प्राप्त वस्तुओं को मिलाना (६३६-६४१), आहारप्रमाण अर्थात् आहार के प्रमाण को ध्यान में रखकर भिक्षा लेना आदि का प्ररूपण है (६४२-६५४)। आग में अच्छी तरह पके हुए आहार में आसक्ति प्रदर्शित करना अंगार दोष है, और अच्छी तरह न पके हुए आहार की निन्दा करना धूमदोष है (६५५-६६०)। क्षुधा की शान्ति के लिए, आचार्यों के वैयावृत्य के लिए, ईर्यापथ के संशोधन के लिए, संयम के लिए, प्राणधारण के लिए और धर्मचिन्तन के लिए भोजन न करना कारण दोष है (६६१-६६७)।

●

भूल-सुधार

गतांक में प्रकाशित 'समस्त जैन संघ को नम्र विज्ञप्ति' लेख में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। पृष्ठ ३७ के तीसरे पैरा की प्रथम पंक्ति में "मानते हैं" के स्थान में "मानें", द्वितीय पंक्ति में "मनाते हैं" के स्थान में "मनाएँ" और तृतीय व चतुर्थ पंक्ति में "करते हैं" के स्थान में "करें" होगा। ये भूलें मूल अनुवाद में ही रह गई हैं।

—संम्पादक

कुमार-सिंह वार्ता

श्री फिल्टर

सिंह—कहिये कुमार जी ! क्या सोचते जा रहे हैं ?

कुमार—सोचता हूँ, जमाना कितनी तेज रफ्तार से आगे बढ़ रहा है।

सिंह—वह कैसे ?

कुमार – देखिये न, जहाँ एक घण्टे में बैलगाड़ी एक मील सफर करती थी, वहाँ अब राकेट अठारह हजार मील की रफ्तार से धरती को नाप रहा है।

सिंह—हाँ, कहना तो सही है। लेकिन आज यह रफ्तार की बात आपको कैसे याद आ गई ?

कुमार – अभी-अभी कुछ दिन हुए हमारे पड़ोस में सेठ लच्छीराम जी परलोक सिधार गये याने इस जगती से छुट्टी पा गये ९० साल की उम्र में।

सिंह—तो मेरी समझ में यह नहीं आया कि रफ्तार का मौत से आपने कैसे, क्यों नाता जोड़ा ?

कुमार – सुनिये तो। आप प्रश्न पूछने की रफ्तार जरा कम कीजिए। पहले मेरी बात पूरी सुन लीजिये।

सिंह – हाँ, कहिये।

कुमार—तो हुआ यह कि सेठ तो मर गये। बाद में उनके घर रिश्तेदारों का ताँता लगने लगा। सभी औरतें कभी बारी-बारी से और कभी सहकारी समिति बनाकर रोने का रोज नाटक रचतीं। तीन दिन में ही मैं तो इस तरह बोर हो गया कि कुछ न पूछिये।

सिंह—यह आप कैसे कहते हैं कि घर के लोगों को भी वास्तव में रोना नहीं आया होगा ?

कुमार—मान लिया कि घरवालों को दुःख हुआ होगा। तो क्या सिर्फ औरतों को ही हुआ, मर्दों को नहीं। क्या मर्द फूट-फूट कर और चिल्ला-चिल्ला कर रोना नहीं जानते ? जिस प्रकार मर्द शान्त भाव से रो लेता है उसी प्रकार औरतें चुपचाप नहीं रो सकतीं ? वास्तव में होता

यह है कि बाहर से आनेवाले रिश्तेदारों को तो रोना आता नहीं किन्तु वे बार-बार इस प्रकार का नाटक रचकर घरवालों के दुःख को ताजा बनाये रखते हैं और यह बताना चाहते हैं कि उनको बहुत दुःख हुआ है। वास्तव में उनका कर्त्तव्य तो यह होता है कि वे दुःखी लोगों के दुःख को किसी प्रकार भुलाने में सहायक हों, किन्तु देखने में यह आता है कि उनके इस कर्म का परिणाम बिलकुल विपरीत होता है।

सिंह—ठीक कहते हैं आप और फिर इस प्रकार नकली रोने का ढोंग रचना आज के युग में कितना भद्दा प्रदर्शन लगता है।

कुमार—यही तो बात मैं भी कह रहा था कि जमाने की रफ्तार किधर है और हमारी रफ्तार किधर। जरा एक क्षण के लिये तो कभी हम अपने बारे में सोचें।

सिंह—देखिये कुमार साहेब, धार्मिक दृष्टिकोण से भी यह कर्म निन्दनीय है।

कुमार—कैसे ?

सिंह—जैनधर्म के अनुसार दिवंगत जीवात्मा के लिये रोना-धोना करने से कर्म का बन्धन होता है। जीव कर्मानुसार आवागमन करता रहता है। इसलिये यह सब प्रपंच निरर्थक है। इसके बजाय मरणोपरान्त स्वर्गीय आत्मा के निमित्त भजन, कीर्तन आदि ऐसे धार्मिक कार्य किये जाने चाहिये जिससे उसे शान्ति मिले। क्या आपको नहीं मालूम कि बा के स्वर्गवासी होने पर बापू ने बारह दिन तक प्रार्थना की थी।

कुमार—सिंह जी, यह जो कुछ आप कह रहे हैं वह नाटक करने वाली सभी औरतें भी जानती हैं फिर भी चूँकि सामाजिक परंपरा है इसलिये वे नहीं रोएँगी तो सभी उपस्थित लोग तरह-तरह की टीका करेंगे इस डर से बेचारी मजबूर होकर रोने का ढोंग रचती हैं।

सिंह—तो इसका मतलब यह हुआ कि सबसे अधिक व्याख्यान सुनने का, सबसे अधिक धर्म में समझने का व घर के लोगों को धर्म का पाठ पढ़ाने का हक जताने वाली औरतें जब खुद पर आती हैं तो इतना-सा भी साहस नहीं कर सकतीं कि नकली रोने का ढोंग रचकर पाप न कमायें।

कुमार—भाई सिंह जी, धर्म के ठेकेदार बन जाना अलग बात है, बहुत व्याख्यान सुन लेना अलग बात है और धर्म के तत्व को समझकर उस पर डटे रहना

तथा उसे जीवन में अंगीकार करना अलग बात है। उसके लिये बड़ी हिम्मत चाहिये।

सिंह—पुरानी महिलाओं को यदि हम किसी कारण छोड़ें तो भी आज की नई पीढ़ी की शिक्षित कहलाने वाली महिलाओं को तो समाज की ऐसी कुप्रथाओं का अन्त करने में आगे बढ़ना ही चाहिये।

कुमार - मतलब कहने का आखिर वही हुआ न कि बैलगाड़ी की रफ्तार अगर हमने नहीं छोड़ी तो सारे जमाने की लानत और नफरत लेकर हमें जिन्दगी काटनी पड़ेगी। देखिये सिंह जी, गत जनवरी में जब रामू काका गुजर गये तो उनके यहाँ मेरी पत्नी संवेदना जताने गई। जाने से पहले मैंने जोर दे कर कहा कि वहाँ रोने का ढोंग नहीं करना। वह कहने लगी मैं अकेली नहीं रोऊँगी तो सब मेरी टीका-टिप्पणी नहीं करेगीं ? मैंने काफी समझाया और जब वह नहीं रोई, केवल सहानुभूति प्रकट करके चली आई तो जानते हो क्या हुआ ?

सिंह - क्या हुआ ?

कुमार - बूढ़ी औरतों ने जरूर कोई कानाफूँसी की किन्तु नई औरतों ने बाद में बहुत सराहा और जब वह कल सेठ लच्छीराम जी के घर गई तो उसके साथ पाँच सात औरतें ऐसी थीं जिन्होंने केवल सहानुभूति प्रकट की। देखिये पारसियों की एक प्रथा बड़ी अच्छी है।

सिंह—वह कौन-सी ?

कुमार—मृतक के परिवार वाले एक काली तख्ती पर मृतक का नाम, मरने का कारण व समय आदि जानकारी लिख देते हैं। जो भी रिश्तेदार या परिचित उनके यहाँ आता है वह तख्ती पर लिखी जानकारी पढ़ लेता है और चुपचाप थोड़ी देर बैठकर चला जाता है। इससे मृतक के परिवार वाले को राम कहानी बार-बार नहीं दोहरानी पड़ती जैसा कि हम लोगों में होता है। मृतक के बारे में बार-बार चर्चा करने से परिवार के लोगों का घाव हरा बना रहता है।

सिंह—पारसी लोगों में तो मृतक को कुएँ में रखते हैं ?

कुमार--हमें किसी भी व्यक्ति या समाज से अच्छी बात को लेना है। अच्छा चलें। बहुत समय हो गया है। फिर मिलेगें। नमस्ते।

सिंह—नमस्ते।

सन्मति ज्ञानपीठ आगरा के तीन प्रकाशनः—

(१) आगम और व्याख्या-साहित्य

लेखक : श्री विजयमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न तथा श्री मुनि समदर्शी, प्रभाकर; प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; पृष्ठ संख्या ९७; मूल्य : एक रुपया पच्चीस पैसे; कागज और छपाई-सफाई सुन्दर।

वैदिक साहित्य में वेदों का और बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों का जो स्थान है वही स्थान जैन साहित्य में आगमों का है। भगवान् महावीर की दिव्य देशना का जो संकलन उनके गणधरों—मुख्य शिष्यों ने प्राकृत भाषा में अङ्गों की रचना के रूप में किया था वह 'आगम' के नाम से प्रसिद्ध है, और उसी के आधार पर विषय-विभाग करके स्थविरों ने शिष्यहिताय उसी शैली में जो आकलन किया वह उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद और मूल के नाम से।

आगमों की संख्या ४५ है :—११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग, ६ मूलसूत्र, ६ छेदसूत्र और १० प्रकीर्णक। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की एक परम्परा की दृष्टि से आगमों की संख्या ८४ भी है। दिगम्बर सम्प्रदाय षट्खण्डागम को मान्यता देती है जो उक्त आगमों से भिन्न है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं (४५) आगमों और इनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, टब्बा-संक्षिप्तटीका एवं अनुवाद (हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी) आदि का अत्यन्त प्रामाणिक परिचय दिया गया है। किस आगम का प्रतिपाद्य विषय क्या है और उन पर निर्युक्ति आदि की रचना किन्होंने की, इसका विशद विवरण सुन्दर हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। आगम साहित्य का साङ्गोपाङ्ग परिचय कराने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। जो भी इसे पढ़ेगा लेखक (मुनि युगल) की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा।

(२) आगम युग का जैन दर्शन

लेखक : श्री पं० दलसुख मालवणिया; सम्पादक : श्री विजयमुनि, शास्त्री; प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; पृष्ठ संख्या ३२० से ऊपर; मूल्य : पाँच रुपये; कागज और छपाई-सफाई सुन्दर।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन सन्मति साहित्य-रत्नमाला के ९१ वें रत्न के रूप में हुआ है। इसका विषय नाम से ही स्पष्ट है। यह पाँच खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में आगम साहित्य की रूपरेखा, दूसरे में प्रमेय, तीसरे में प्रमाण, चौथे में जैन आगमों में वाद और वादविद्या तथा पाँचवें में आगमोत्तर जैन दर्शन वर्णित है। इसके प्रारम्भ के दो पृष्ठों में लेखक की ओर से, एक में प्रकाशकीय, एक में समर्पण, सात में विषयानुक्रमणिका, तीन में संकेत सूची, तीन सौ बीस में प्रतिपाद्य विषय तथा प्रतिपाद्य विषय के अन्तिम पृष्ठों में दो विशिष्ट परिशिष्ट दिये गये हैं। पहले परिशिष्ट (पृष्ठ २७९ से २९१ तक) में दार्शनिक साहित्य का विकासक्रम और दूसरे परिशिष्ट (पृष्ठ २९५ से ३२० तक) में आचार्य मल्लवादी और उनके नयचक्र पर विशद प्रकाश डाला गया है। अन्त के पैंतीस पृष्ठों में तीसरा परिशिष्ट दिया गया है जिसमें पारिभाषिक विशिष्ट शब्दों की सूची अकारादि क्रम से दी गई है।

यों अनेक मनीषियों ने जैन दर्शन के कुछ संस्कृत-प्राकृत मौलिक ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं और स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में हिन्दी, गुजराती, तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में जैन दर्शन पर बहुत कुछ लिखा है, पर उससे जैन दर्शन के केवल मध्यकालीन विकसित रूप का ही परिचय प्राप्त होता है। मूल जैन आगमों में जैन दर्शन का रूप कैसा है—इसका विवरण अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया था। प्रस्तुत पुस्तक ने पहली बार इस अभाव को दूर किया है। इसके अध्ययन से जैन दर्शन के आगमयुगीन तथा मध्ययुगीन दोनों ही रूपों का परिज्ञान हो जाता है। विद्वान् लेखक ने बीच-बीच में अनेक चार्ट देकर विषय को स्पष्ट किया है। सुन्दर सम्पादन ने इसे और भी अधिक उपादेय बना दिया है। इसके प्रामाण्य के विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इसके लेखक पं० श्री दलसुख जी मालवणिया हैं, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन एवं सम्पादन किया है। प्रस्तुत कृति के लेखक एवं सम्पादक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

(३) समाज और संस्कृति

प्रवचनकार : उपाध्याय श्रीअमरमुनि; सम्पादक : श्रीविजयमुनि शास्त्री; प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; पृष्ठ संख्या २३९; मूल्य : तीन रुपये पच्चीस पैसे; कागज और छपाई-सफाई सुन्दर ।

प्रस्तुत पुस्तक सन्मति साहित्य-रत्नमाला का ९२ वां रत्न एवं अमर-ग्रन्थमाला का ७ वां पुष्प है । इसमें कविवर उपाध्याय श्री अमरमुनि के १९ प्रवचनों का संकलन है, जो उन्होंने सन् १९६४ में जयपुर के वर्षावास में दिये थे । इन प्रवचनों में क्रमशः मनुष्य की संकल्पशक्ति, स्वभाव और विभाव, अध्यात्मसाधना, विकल्प से विमुक्ति, जीवन का रहस्य, मानवजीवन की सफलता, जैनधर्म अतिवादी नहीं है, जीवन की क्षणभंगुरता, शक्ति ही जीवन है, मनुष्य स्वयं दिव्य है, मन ही साधना का केन्द्र-बिन्दु है, आत्मा ज्ञानमयो हि, कर्म की शक्ति और उसका स्वरूप, भारतीय दर्शन की समन्वय परम्परा, अहिंसा और अनेकान्त, भारतीय संस्कृति में अहिंसा, व्यक्ति का समाजीकरण, संस्कृति की सीमा, व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति—इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है ।

प्रस्तुत पुस्तक का एक-एक अक्षर पढ़ने योग्य है । उपाध्याय जी के इन प्रवचनों की भाषा और भाव दोनों ही अत्यन्त आकर्षक हैं । प्रत्येक प्रवचन का विषय सैकड़ों जैन व जैनेतर ग्रन्थों के मार्मिक उद्धरणों एवं आख्यानों से अनुप्राणित है । फलतः यह कृति क्या जैन, क्या हिन्दू और क्या बौद्ध सभी के काम की है । इस कृति के लिए कविवर उपाध्याय जी एवं विजयमुनि जी का प्रयास हृदय से अभिनन्दनीय है ।

—अमृतलाल शास्त्री

घरेलू इलाज

लेखकः—वैद्यरत्न चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कुर, प्रकाशकः—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी—५, मूल्य रु० २.०० ।

भारत की प्राचीन आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का अत्यन्त सम्मानजनक इतिहास तथा विपुल प्रसिद्धि रही है । प्रस्तुत पुस्तक 'घरेलू इलाज' इसी भूतकाल के ज्ञान और उपचार की ओर पथ-प्रदर्शन करती है । इसमें अग्नि-दग्ध (आग से जलना), अजीर्ण, अग्निमान्द्य, अरुचि, अनिद्रा, अपस्मार—मृगी, अम्लपित्त आदि ४३ प्रमुख रोगों से मुक्ति पाने के लिए दो सौ उनचालीस

विभिन्न प्रकार के नुस्खे बड़ी सरल व सुबोध भाषा में संकलित हैं। अन्त में पुराने तोल-माप की जानकारी के साथ परिशिष्ट में क्वाथ (काढ़ा), चूर्ण, गोली, शरबत, आदि के तैयार करने की संक्षिप्त विधि दी गई है। लेखक ने बड़े लगन व परिश्रम से प्रत्येक नुस्खों के अन्दर रोगानुसार मात्राएँ तथा अनुपान भेद से सेवन विधियाँ देकर पुस्तक को सर्व साधारण के लिए बोधगम्य तो बनाया ही है साथ ही अल्प व्यय साध्य चिकित्सा का सुन्दर साधन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से देशी दवाइयों का प्रचार बढ़ेगा, ऐसा विश्वास है। अतः आयुर्वेद के प्रति सहानुभूति रखने वालों के लिए यह पुस्तक उपादेय है।

बक रहा हूँ जुनून में

लेखकः प्रकाश पण्डित, प्रकाशकः—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी - ५, मूल्य—रु० ३—००।

प्रेम तथा क्रोध का अस्तित्व पशु-पक्षी में भी देखने को मिल जाता है किन्तु 'हास्य' और 'व्यंग्य' का सीधा सम्बन्ध मानव के जीवन तत्त्व से है। साहित्यकार जब यह देखता है कि समाज में दुराचार एवं कुरीतियों का, न्याय के स्थान में अन्याय का, वास्तविकता की जगह विज्ञापनबाजी का प्रचार करने वालों का आधिक्य हो रहा है तब वह अपने हास्य व व्यंग्य के द्वारा मधुर, कहीं-कहीं तीखा प्रहार करने लगता है।

प्रस्तुत पुस्तक का संवर्धन इसी पृष्ठभूमि पर हुआ है। इसमें विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से पच्चीस निबन्धों का आकलन हुआ है और इन सब का उद्देश्य सामाजिक सुधार भावना की ओर है। यद्यपि 'बक रहा हूँ जुनून में' यह नाम दिया गया है परन्तु लेखक जुनून में— पागलपन में नहीं, बल्कि स्वस्थ मन व पैनी दृष्टि से अपनी बातों को पेश करता है। हिन्दी में यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली साबित होगी ऐसा मेरा विश्वास है। उक्त दोनों पुस्तकों का प्रकाशन ज्ञानपीठ के उद्देश्य के अनुरूप है।

अधखुली पलकें

साध्वी श्री मंजुला, संकलनकर्ता—कमलेश चतुर्वेदी, प्रकाशक—सुगम साहित्य-सदन, १९४ जमुनालाल बजाज स्ट्रीट, कलकत्ता - ७, मूल्यः—दो रुपये।

प्रस्तुत कृति में छोटे-बड़े विभिन्न स्तम्भों के अन्तर्गत ५४ कविताएँ संकलित हैं। साध्वी श्री मंजुलाजी की कविता में किसी न किसी रूप में एक महती

चेतना शक्ति आबद्ध है। परिणामतः इसकी रहस्यमूलक भावनाओं को विशेष स्पष्ट करना भी सामान्य बूते की बात नहीं है। उसी चेतना के प्रति अपने जीवन की भूलें, अपनी उपलब्धियाँ, अपनी हृदयगत संवेदनाएँ अर्पित की गई हैं। इसमें पग-पग पर करुणा का स्रोत प्रवहमान है। थकित व विकल मानव को उद्‌बोधन की भाषा में दृढ़ता का संबल दिया गया है (पृ० १८, १९, ३३)। इस प्रकार कविता में भावनाएँ उर्मिल हो गई हैं। शैली में चिन्तन की शैली प्रस्फुटित हैं। ऐसी सुन्दर कृति का हिन्दी समाज में आदर होगा ऐसी आशा है। सुन्दर छपाई व सफाई के लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

कपिलदेव गिरि

प्राप्ति-स्वीकार

Essence of Jainism

By Puran Chand Samsookha ; Translated by Ganesh Lalwani ; Published by Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Calcutta—7, Price 50 Paise.

आज ही मंगवाइये

(१) सरस जैन गीतावली—मूल्य ०-२५ पैसे
(रचयिता—श्री प्यारेलाल श्रीमाल)

(२) राजयोगी भरतरी (लोकनाट्य)—मूल्य एक रुपया
(भूमिका—डा० चिन्तामणि उपाध्याय)

(३) प्रणवीर तेजाजी (लोकनाट्य)—मूल्य एक रुपया
(भूमिका—पद्मभूषण पं० सूर्यनारायण व्यास)

पता—अवन्तिका संगीत प्रकाशन, रंगमहल, नईपेठ, उज्जैन (म० प्र०)

नोट—दुकानदारों को पचास प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा। सरस जैन गीतावली को प्रभावना के निमित्त मंगाने वाले को भी पचास प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा।

मोल्डिंग पाउडर ..... प्रेसराइट

बटन ..... फूलछाप

ट्रूल्स ..... बरार ट्रूल्स

कुछ भी मांगिए

श्रेणी में प्रमुख है

बनाने वाले :—

रतनचन्द हरजसराय (प्लास्टिक्स)

प्रा० लि०

फरीदाबाद

OUR LATEST PUBLICATION

STUDIES IN HEMACANDRA'S DESĪNĀMAMĀLĀ

By

Dr. HARIVALLABH C. BHAYANI
Professor of Linguistics
Gujarat University, Ahmedabad

Price : **Rs. 3-0-0**

P. V. RESEARCH INSTITUTE
JAINASHRAM
HINDU UNIVERSITY, VARANASI—5.

Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,
Director, P. V. Research Institute, Varanasi–5
Printed by Shri Lakshmi Das, B.H.U. Press, Varanasi–5